उच्चतर शोध के लिए अवश्य संग्रहणीय हस्तलिखित ग्रंथ-सूचियाँ

⊙

१. पाण्डुलिपियाँ
सम्पादक—श्री वाचस्पति गैरोला १२.००

२. ब्रजभाषा रीतिशास्त्र ग्रन्थकोश
संपादक—श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी १०.००

३. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की विवरणात्मक सूची
संपादक—डा० रामकुमार वर्मा ७०.००

४. संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों की विवरणात्मक सूची, भाग १
संपादक—डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल ७५.००

५. संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों की विवरणात्मक सूची, भाग २
संपादक—चण्डिका प्रसाद शुक्ल

विश्वविद्यालयों के हिन्दी-संस्कृत विभागों, शोध-संस्थानों, पुस्तकालयों एवं विद्वानों के लिए परमोपयोगी एवं अनिवार्य

⊙

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सम्मेलन-पत्रिका

(त्रैमासिक)

[भाग ६२ : संख्या २]
चैत्र-ज्येष्ठ : शक १८९८

⊙

सम्पादक
डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

⊙

वार्षिक १५.००

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

एक प्रति ३.७५

विषय-सूची

लेख	लेखक	पृष्ठ संख्या
सम्पादकीय		अ
१. इन्द्रप्रस्थीय राजावली	: डॉ० चन्द्रकान्त बाली	१
२. प्राच्य विद्याओं के दधीचि पुरातत्त्वाचार्य स्व० मुनि जिनविजय	: डॉ० हरीश	७
३. हिन्दी कविता की सामान्य भूमि	: श्री विश्वम्भर 'मानव'	२०
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की काव्य मान्यताएँ	: डॉ० विजय शुक्ल	३१
५. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के एकांकियों में अभिव्यक्त पारिवारिक जीवन	: डॉ० म० के० गाडगील	४२
६. नयी कविता के सन्दर्भ में काव्य भाषा पर पुनर्दृष्टि	: डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय	५३

विविधा

१. हरियाणी क्रियाएँ (धातुएँ)	: डॉ० विष्णुदत्त भारद्वाज	६४
२. विद्या विलास सभा	: डॉ० गंगादत्त 'विनोद'	६६
३. क्या घनानन्द की प्रेयसी का नाम सुजान था?	: डॉ० मोहन अवस्थी	७४
४. अज्ञात कवि गोपाल तथा उनकी काव्य-कृति	: स्वामी वाहिद काजमी	७६
५. उद्देश्य को 'सब्जेक्ट' का पर्याय कर्ता मानने की समस्या	: आचार्य वात्स्यायन धर्मनाथ शर्मा	८१

पुस्तक परिचय

डॉ० क्षेत्रपाल गंगवार, डॉ० मुहम्मद अयूब खाँ, डॉ० मीरा श्रीवास्तव, श्री उमाकान्त मालवीय, श्री तारिणीश झा, डॉ० कुसुम वार्ष्णेय, श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया, श्री कृष्णनारायण लाल, डॉ० ओम प्रकाश सक्सेना, श्री उदयशंकर दुबे।

प्रकाशक तथा मुद्रक : प्रभात मिश्र शास्त्री : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

सम्पादकीय

श्रद्धाञ्जलि

⊙

स्वर्गीय श्री जयचन्द्र विद्यालंकार

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पूर्व सभापति स्वर्गीय जयचन्द्र विद्यालंकार जी राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल समर्थक, भारतीय इतिहास के गहन अध्येता एवं उसको राष्ट्रीय आधार प्रदान करने वाले महान् इतिहासज्ञ थे। आपकी विलक्षण प्रतिभा से भारतीय इतिहास और संस्कृति को नयी दिशा एवं दृष्टि प्राप्त हुई। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ होने के साथ ही साथ आप स्वातंत्र्य संग्राम के क्रान्तिकारी योद्धा भी थे। आप क्रान्तिकारियों के पथ-प्रदर्शक और बौद्धिक जगत् के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। आपने जो अपूर्व मौलिक अन्वेषण किए हैं उनसे हिन्दी का सम्मान और गौरव बढ़ा है। सम्वत् १९९० में आपकी सुप्रसिद्ध कृति 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पर सम्मेलन ने 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया था। इस महत्वपूर्ण कृति का अंग्रेजी तथा अन्य कई भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है।

पंजाब के लायलपुर जिले के विधिकोट नामक ग्राम में सन् १८९८ ई० में जन्में श्री विद्यालंकार जी की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल कांगड़ी में सम्पन्न हुई थी। शिक्षा समाप्ति के पश्चात् आपने नेशनल कालेज, लाहौर, काशी विद्यापीठ तथा सदाकत आश्रम में स्थापित बिहार विद्यापीठ में भारतीय स्वतंत्रता के लिए अधीर नवयुवकों के अध्यापन का कार्य किया। आपके अनगिनत शिष्यों में अमर शहीद भगत सिंह, शुकदेव एवं भदन्त आनन्द कौसल्यायन विशेषोलेख्य हैं। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल आपके सहयोगियों में थे। आपने स्व० यशपाल, श्री अज्ञेय आदि प्रसिद्ध साहित्यकारों के साथ भारत में सशस्त्र क्रान्ति के माध्यम से अंग्रेजों को हटाने का संघर्ष भी किया था जिसके लिए आपको लगभग १५ वर्षों तक कारावास-जीवन बिताना पड़ा था। आपका पूरा परिवार ही राष्ट्रीय संघर्ष में जूझ पड़ा था।

राजर्षि टण्डन जी की प्रेरणा से श्री विद्यालंकार जी ने पंजाब में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार हेतु भगीरथ प्रयत्न किया था। आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साहित्य मंत्री (सं० १९८९) तथा कोटा अधिवेशन (सं० २००७) के सभापति थे। इसके अतिरिक्त, आपने तीन वर्षों तक (सं० १९९३ से १९९५) अनवरत सम्मेलन की इतिहास-परिषद् के सभापति पद को सुशोभित किया था। आपकी मौलिक इतिहास-दृष्टि के कारण ही सम्मेलन ने आपको उक्त सम्मानित पद प्रदान किया था।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के श्री विद्यालंकार जी अनन्य भक्त थे। जीवन के अंतिम क्षण तक उनके हृदय में सम्मेलन को प्रभावी स्वरूप प्रदान करने का सुखद स्वप्न था। परिस्थिति-

वश उनके जीवन का उत्तरार्ध इटली में व्यतीत हुआ किन्तु दैववशात् उनकी इहलीला भारत की धरती पर ही समाप्त हुई। इटली से वे भारतीय इष्टमित्रों और बन्धु-बान्धवों से भेंट करने के लिए आए थे। दिल्ली में अपने स्वजन के यहाँ टिके और अकस्मात् मृत्यु ने उनका वरण कर लिया। उनका आकस्मिक निधन सम्मेलन के लिए वज्रपात के सदृश ही है।

इतिहास-निर्माण के क्रम में उन्होंने बहुत-सा कार्य किया है जो अप्रकाशित है। उसके प्रकाशन की आवश्यकता है। यदि उनकी स्मृति में इतिहास का कोई अनुसंधान संस्थान निर्मित हो सके तो उस पुण्यश्लोक इतिहासज्ञ के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

स्वर्गीय पण्डित हृषीकेश शर्मा

आन्ध्र भारती के वरद पुत्र स्वर्गीय पण्डित हृषीकेश शर्मा ने नवयौवन काल में ही राष्ट्रपिता महात्मा गांधी से प्रेरणा प्राप्त कर राष्ट्रभारती हिन्दी के प्रचार का जो व्रत लिया था, वह मृत्यु पर्यन्त अक्षुण्ण तथा अटूट बना रहा। प्रारम्भ में आपने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के माध्यम से राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार किया था। तदनन्तर नागपुर में विदर्भ राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के संचालक के रूप में कार्य करते रहे, जहाँ आपकी यह हिन्दी-निष्ठा राष्ट्रभाषा प्रचार के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है।

राष्ट्रभाषा के मूर्धन्य सेवी स्वर्गीय श्री शर्मा जी आत्म-प्रचार, आत्मश्लाघा और पद-प्रतिष्ठा से विरक्त निष्ठावान साहित्यकार और पत्रकार थे। वर्धा से प्रकाशित 'राष्ट्र-भारती' पत्रिका के सम्पादक के रूप में आपने अपनी नीर-क्षीर विवेकिनी प्रतिभा का परिचय दिया था। आपकी यशस्वनी लेखनी में बड़ी शक्ति थी।

ऐसे निष्ठावान् हिन्दी-सेवी के निधन से राष्ट्रभाषा हिन्दी की अपूरणीय क्षति हुई है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से उनका पुण्य-स्मरण करते हुए, हम अपना प्रणाम अर्पित करते हैं।

स्वर्गीय यशपाल जी

परिचय की प्रगाढ़ता और अंतरंगता न होते हुए भी कभी कानपुर में और कभी लखनऊ में संयोगवश ऐसे अनेक अवसर आए हैं जब यशपाल जी को निकट से देखने और समझने का सौभाग्य मुझे मिला था। उनके साहित्य का पाठक तो मैं अपने विद्यार्थी जीवन से ही रहा हूँ अस्तु मैं यह अनुभव करता हूँ कि उनके व्यक्तित्व और उनके साहित्य में प्रत्येक सहृदय को प्रभावित करने की एक स्पर्धा-सी थी। प्रत्यक्षतः उनका बाह्य स्वरूप— आकार-प्रकार, रहन-सहन ऐसा नहीं था जिसके प्रति असामान्यता का भाव रखकर आकृष्ट हुआ जाय, पर ऐसा कुछ अवश्य था कि उनके निकट आने पर, उनके साथ कुछ क्षण व्यतीत

करने पर उनका प्रभावकारी मौलिक व्यक्तित्व उभर कर सामने आ जाता था। अपनी मित-भाषिता, संक्षिप्तता में वे विशालता और गहनता की सीमाओं का संस्पर्श करते हुए पाए जाते थे। उनके प्रभावी व्यक्तित्व के मूल में उनकी संघर्षशीला प्रकृति थी जो विषम परिस्थितियों के समक्ष झुकने की अपेक्षा टूटने में गौरव अनुभव करती थी। विद्यार्थी जीवन में ही क्रान्ति का जो बीज आपके हृदय में अंकुरित हुआ, कालान्तर में उसी ने उन्हें 'यशपाल' बना दिया। तीन वर्ष फरारी रूप में तथा सात वर्ष की जेल यातना ने उनकी क्रान्ति की भावना को पौष्टिकता एवं स्फूर्ति प्रदान की थी।

यशपाल जी के अन्तस में निहित स्वावलम्बन एवं आत्मगौरव की भावना ही उन्हें साहित्य क्षेत्र में ले आई। जन्म और मृत्यु प्रभु का विधान अवश्य है, पर जीवन को गौरव प्रदान करने का श्रेय हमारी कर्म-साधना को है। यशपाल जी इसी कर्म-साधना को ही अपने जीवन का मूल मंत्र मानकर अपने यात्रा-पथ पर निरन्तर गतिशील रहे और अपनी गति-शीलता को ही अपनी साहित्यिक यात्रा का पाथेय बनाया। इसलिए यशपाल जी की लेखनी उनकी अंतिम श्वास तक सहचारिणी रही और इस सहचारिणी के शील-स्वभाव तथा आचरण पर यशपाल जी की धर्मपत्नी श्रीमती प्रकाशवती को तो गर्व है ही, समस्त हिन्दी जगत भी उसके गौरव से गौरवान्वित है।

यशपाल जी का क्रान्तिकारी जीवन उनके साहित्य को सँवारने, उसमें प्राणवत्ता का संचार करने में सदैव सक्रिय रहा है। वे युग चेतना के सजग प्रहरी के रूप में अपनी साहित्यिक सृष्टि में अपने कृतित्व का परिचय देते हुए चलते हैं। फलतः उनके साहित्य में न तो रूढ़ियों-परम्पराओं का पोषण है और न विवेकहीन उच्छृंखल क्रान्ति के अस्पष्ट एवं अनमिल स्वर। वे प्रकृति के विकासपूर्ण अनिवार्य तत्त्वों से परिचित होने के कारण मानव प्रकृति की सृजनशीलता का स्वागत करते हुए चलते हैं। यही कारण है कि उनके साहित्य में सामान्यतः ऐसा कुछ लगता है जो अपने अतीत से—अपनी सांस्कृतिक चेतना से पृथक-सा है, पर जीवन-स्वरूप की इस अनिवार्यता से मुख मोड़ना भी उनके लिए संभव नहीं हो सका।

यशपाल जी ने जिस प्रकार अपने व्यावहारिक जीवन में भविष्य-निर्माण के स्वरूप को अपने दृष्टिपथ में रखा है इसी प्रकार साहित्य-सर्जना में भी वे नव निर्माण की कल्पना में भविष्य को सुखद एवं सुन्दर बनाने में संलग्न प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि यशपाल जी का साहित्य बैठे-ठाले जीवन की प्रसूति नहीं है, वरन् वह उनके अनुभव, चिंतन-मनन एवं कल्याणकारिणी कामनाओं की ही प्रतिच्छवि है। अतएव प्रयोजनवत्ता उनके साहित्य का एक विशिष्ट गुण माना जायेगा।

आधुनिक काल में राजनीतिक जागरण और हलचल के कारण समाज में अनेका नेक विचार-सरणियाँ उद्भूत हुई हैं जिनमें समाजवादी चिंतनधारा भी अपना प्रमुख स्थान रखती है।

यशपाल जी का साहित्य उस विचारधारा का सृजन एवं पल्लवन करने में विशेष

सक्रिय रहा है, और इस दृष्टि से वे अपने क्षेत्र में यशस्वी एवं वर्चस्वी लेखक के रूप में प्रतिष्ठित रहे।

विगत २६ दिसम्बर' ७६ को ७३ वर्ष की आयु में उनकी श्वासों के साथ ही लेखनी ने भी विश्राम ले लिया। यशपाल जी का स्वाभिमानी एवं कर्मठ जीवन नवागंतुक साहित्य-पथ के पथिकों के लिए प्रेरणाप्रद होगा, इस विश्वास के साथ जगन्नियन्ता प्रभु से प्रार्थना है कि उनकी दिवंगत आत्मा को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो।

स्वर्गीय श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु'

बिहार प्रदेश के पूर्णिया जिले में स्थित ग्राम औराही हिंगल की वह भूमि धन्य है जहाँ ४ मार्च, सन् १९२१ को श्री फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने जन्म लिया। आपकी जन्मभूमि नेपाल की सीमा के अत्यन्त समीप होने के कारण श्री रेणु जी की प्रारम्भिक शिक्षा नेपाल में ही हुई। मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। किन्तु आपका वास्तविक अध्ययन विद्यालयों की चहारदीवारी के अन्दर न होकर जीवन के उन्मुक्त वातावरण में हुआ था जहाँ उन्होंने जन-जीवन की आवश्यकताओं, उसके करुणा विगलित स्वरों का अपनी पूरी संवेदना और सहृदयता के साथ अध्ययन ही नहीं किया था, उस पर चिन्तन एवं मनन भी किया था। जीवन की व्यावहारिक पाठशाला ने रेणु जी के जीवन को ढाला, उसे सँवारा और एक स्पृहणीय आकार प्रदान किया। अपने जीवन के सक्रिय विहान में वे कर्मठ एवं विचारशील राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में जन-मानस के श्रद्धापात्र बने।

हिन्दी वाङ्मय का यह सौभाग्य था कि उसकी कथा-विधा को समृद्ध करने के लिए रेणु जी ने सन्' ४६ में हिन्दी-सेवा का व्रत लिया। प्रेमचन्द प्रवर्तित सूक्ष्म आंचलिक भाव-भूमि के कथाकार के रूप में श्री फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आंचल', 'परती परिकथा', 'जुलूस', 'कितने चौराहे' आदि जो महत्वपूर्ण कथात्मक रचनाएँ हिन्दी-जगत् को दी हैं उनके आधार पर ही आधुनिक उपन्यास का आंचलिक स्वरूप केवल उभरा ही नहीं, अपितु वह सामान्य स्वरूप भी अर्जित कर सका है। यद्यपि निराला और नागार्जुन आदि के प्रयास भी इस दिशा में सम्मानपूर्ण चर्चा का विषय बनते हैं तथापि आंचलिक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग रेणु ने ही किया है। आपने 'मैला आंचल' की भूमिका में सगर्व घोषित किया है— "यह है 'मैला आंचल', एक आंचलिक उपन्यास।"

वस्तुतः आंचलिक उपन्यास लेखक का अनुभव, समीक्षा-क्षेत्र का विषय होता है। इस दृष्टि से 'रेणु' ने जीवन के अनुभूतिगत जीवनांशों को कथात्मकता के माध्यम से सौन्दर्य-बोध, भावबोध और अनुभूति के सन्दर्भ में सफलतापूर्वक व्यक्त किया है। वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टियों को रेणु जी ने कहीं मोटी रेखाओं

द्वारा चित्रित किया है, कहीं पतली रेखाएँ ही अंकित की हैं और कहीं-कहीं अवकाशों को भरने के लिए अपनी तूलिका से दो-चार बूँद ही यत्र-तत्र छिड़क दी हैं। कैमरामैन की भाँति आपने विकृतियों, असंगतियों और अन्धविश्वासों को भी उनके वास्तविक स्वरूपों में चित्रित किया है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण साहित्य में आतप-तापित जीवन की मूक वाणी को ही मुखरित किया है। आंचलिकता उनके जीवन तथा साहित्य का आवरण नहीं थी।

उनकी प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में आंचलिकता समायी हुई थी। वस्तुतः प्रारम्भ से ही उन्होंने आंचलिक जीवन को ही भोगा था, उसी में वे जिये थे। फलतः आंचलिक जीवन की बड़ी ही सुस्पष्ट चेतना उनके साहित्य में समाहित है।

हिन्दी साहित्य का यह दुर्भाग्य ही है कि फणीश्वरनाथ 'रेणु' जैसे निर्भीक एवं अनुभवी साहित्यकार अपनी ५६ वर्ष की आयु में ही ११ अप्रैल १९७७ को दिवंगत हो गए। साहित्य-सर्जना उनकी पवित्र साधना थी। उन्होंने साहित्य को अपना रक्तदान दिया है। हमारा विश्वास है कि नव-लेखन की प्रतिभाएँ उनके आदर्शमय जीवन का अनुकरण करते हुए हिन्दी कथा-साहित्य को समुन्नत बनाएँगी। परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति प्राप्त हो।

—प्रेमनारायण शुक्ल

इन्द्रप्रस्थीय राजावली

डॉ० चन्द्रकान्त बाली

⊙ ⊙

[आज इतिहास-विशारदों में विवाद छिड़ा हुआ है—क्या सचमुच भारत-संग्राम हुआ था? अगर हुआ था तो वह कब हुआ?—इस प्रश्न पर अनेक विद्वान् अनेक प्रकार की युक्तियाँ बता रहे हैं। कुछ लोग पौराणिक संदर्भ प्रस्तुत करते हैं; दूसरे लोग ज्योतिष के आधार पर समस्या का हल चाहते हैं; तीसरे लोग पुरातत्त्वीय साधनों की छानबीन में लग गए हैं; किस्सा यह कि सब अपने-अपने तौर-तरीकों के सवाल हल करने में जुटे हुए हैं। परन्तु इन सब वैज्ञानिक साधनों के अलावा लोक-परम्पराओं की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हम जानते हैं, इतिहास के कुछ अहम सवाल लोक-परम्परा के बल पर हल हुए हैं। हमारा यह प्रयास लोक-परम्परा की मिट्टी में से भारत-संग्राम का समाधान खोजने का है। लोक-परम्परा-विश्रुत राजावली का आदि पुरुष भारत-संग्राम की भूमिका का प्रमुख पात्र है। अतः इस राजावली की पहली कड़ी 'युधिष्ठिर' से जोड़ कर अंतिम कड़ी 'शालिवाहन' तक जोड़ दी है, जिसका समयांकन ऐहोले शिलालेख में निहित है। देखना यह है कि उक्त लोक-परम्परा भारत-संग्राम के काल-निर्धारण में कहाँ तक योग देती है। इसका निर्णय विद्वज्जन करेंगे। —लेखक]

आज से लगभग १०० साल पहले 'मोहनचन्द्रिका' तथा 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' नामक पत्रिकाओं में इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के सिंहासन पर आसीन राजाओं की तालिका छपी। उसे दो व्यक्तियों ने उद्धृत किया; इनमें एक थे—पण्डित दयानन्द, दूसरे थे—मुरादाबादी पं० बलदेव प्रसाद मिश्र। प्रसिद्ध आर्यनेता दयानन्द पण्डित ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के परिशिष्ट समुल्लास में उसे स्थान दिया।[1] कर्नल टाड के लिखित राजस्थानी इतिहास का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करते हुए उसकी भूमिका में मुरादाबादी मिश्र ने साल-मास-दिवस के उटंकन के साथ

---

१. सत्यार्थ-प्रकाश : दयानन्द सरस्वती; राज संस्करण, संवत् २०२९; दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली; पृष्ठ २६३।

उस राजमाला को लिखा[1]। यह राजावली थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ 'आइन-ए-अकबरी' में पाई जाती है।[2] पौराणिक सूची में कुछ नाम मिलते हैं, शेष नहीं।

यह राजावली कहाँ तक शुद्ध है, प्रामाणिक है और व्यवहारिक है? इन प्रश्नों को न भी उठाते हुए हम उसे अपनी काल-बोध-कसौटी पर परखने का यत्न करते हैं। पाठकों की सुविधा के लिए उसे अंग्रेजी तारीख में बदलने का यत्न भी किया है। यथा—

नाम	वर्ष	मास	दिन	ईसापूर्व	संग्राम-संवत्
१. युधिष्ठिर[3]	३८	—	—	३१४८-३११०	००-३८
२. परिक्षित्[4]	६०	—	—	३०५०-मई ५	९८
३. जन्मेजय[5]*	८४	७	२३	२९६६-दिसं०,२८	१८२

१. राजस्थान इतिहास : अनुवादक—बलदेव प्रसाद मिश्र; भूमिका भाग, पृष्ठ २२-२३।

२. भारतवर्ष का वृहद् इतिहास : भगवद्दत्त बी० ए०; द्वितीय भाग, पृष्ठ २२२।

३. 'प्रथमे ग्रासे मक्षिकापातः' प्रारंभ में ही एक भूल हो गई। महाराजा युधिष्ठिर ने ३७ वर्ष राज्य किया—"षट्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः। ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः"। दुःशकुनानुभूति का अंत श्रीकृष्ण-निधन में हुआ। इसके लिए अधिक-से-अधिक १ वर्ष गिना जाना चाहिए। यह भूल सारिणी के अंत तक कायम रही—यह विस्मय की बात है। पं० दयानन्द ने ३८ के स्थान पर ३६ लिखा है, जो अवांछनीय है, पृष्ठ २६३।

४. (क) परिक्षित् ने ६० वर्ष शासन किया। यह महाभारत के साक्ष्य से सिद्ध होता है—

(१) विदित्वा परमस्त्राणि क्षत्र-धर्म-व्रते स्थितः।
षष्टि वर्षाणि धर्मात्मा वसुधां पालयिष्यति।—सौप्तिक पर्व १६।१४

(२) प्रजा इमाः तव पिता षष्टि वर्षाण्यपालयत्।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन्। —आदिपर्व ४३।३७

(ख) इसकी पुष्टि विष्णुधर्मोत्तर पुराण से भी हो जाती है। राजा परीक्षित जब सिंहासन पर बैठा, उसी वर्ष कृष्ण-पौत्र 'वज्र' का अभिषेक हो गया। "पुत्रस्य पुत्रस्ते (परिक्षित्) कुरुराजो भविष्यति। यदूनां परिशेषश्च वज्रो राजा कृतश्च ह।"—प्रस्थानिक पर्व १।८। वज्र ने मार्कण्डेय मुनि से पूछा—मैं कब तक राज्य करूँगा? मार्कण्डेय मुनि ने कहा—भगवान् श्रीकृष्ण को दिवंगत हुए १० वर्ष हो चुके हैं। राजा परीक्षित् ५० वर्ष और राज्य करेगा, तब तेरा पुत्र 'अचल' राज्य करेगा। यह घटना सप्तर्षि संवत् ६१ तदनुसार ००-कलिसंवत् की है।
—विष्णुधर्मोत्तर० अध्याय ८०। श्लोक ५-१०।

(ग) इतने स्पष्ट संदर्भों के रहते हुए भगवद्दत्त जी बी० ए० ने परीक्षित् का शासन-काल केवल २४ वर्ष ही लिखा है। (?)—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : २रा भाग, पृष्ठ २२६।

५. यह नाम पुराणों में पाया जाता है। जो-जो नाम पुराणों में मिल जाएँगे, उन पर (*) यह चिह्न अंकित रहेगा।

नाम	वर्ष	मास	दिन	ईसापूर्व	संग्राम-संवत्
४. अश्वमेध *	८२	८	२२	२८८३ सितं० २०	२६५
५. द्वितीय राम	८८	२	८	२७९५ नवं० २८	३५३
६. छत्रमल	८१	११	२०	२७१३ नवं० १८	४३५
७. चित्ररथ *	७५	३	१८	२६३७ मार्च ६	५११
८. दुष्टशल्य	७५	१०	१४	२५६१ जन० २०	५८७
९. उग्रसेन	७८	७	२१	२४८३ सित० १०	६६५
१०. शूरसेन	७८	७	२१	२४०४ अप्रै० ३०	७४४
११. भुवनपति	६९	५	५	२३३५ सित० ५	८१३
१२. रणजीत	६५	१०	४	२२६९ अग० ९	८७९
१३. ऋक्षक	६४	७	४	२२०४ मार्च १३	९४४
१४. सुखदेव	६२	—	२४	२१४२ अप्रै० ६	१००६
१५. नरहरिदेव	५१	१०	२	२०९० फर्व० ६	१०५८
१६. शुचिरथ	४२	११	२	२०४७ जन० १०	११०१
१७. शूरसेन (२)	५८	१०	८	१९८९ नव० १८	११५९
१८. पर्वतसेन	५५	८	१०	१९३३ जुला० २८	१२१५
१९. मेधावी *	५२	१०	१०	१८८० मई ७	१२६८
२०. सोनचीर	५०	८	२१	१८२९ जन० २८	१३१९
२१. भीमदेव	४७	९	२०	१७८२ अक्टू० १८	१३६६
२२. नृहरिदेव (२)	४५	११	२३	१७३६ अक्टू० १०	१४१२
२३. पूर्णमल	४४	८	७	१६९१ जून १७	१४५७
२४. कर्दवी	४४	१०	८	१६४६ अप्रै० २५	१५०२
२५. अलमिक	५०	११	८	१५९५ अप्रै० ३	१५५३
२६. उदयपाल	३८	८	—	१५५६ जन० १०	१५९२
२७. दुवनपाल	४०	१०	२६	१५१६ दिस० ५	१६३२
२८. दमात	३२	—	—	१४८४ दिस० ५	१६६४
२९. भीमपाल	५८	५	८	१४२५ मई १३	१७२३
३०. क्षेमक[1] *	४८	११	२१	१३७६ अप्रै० ४	१७७२

---

१. (क) क्षेमक का नाम महाभारत में नहीं है। अलबत्ता भागवत् पुराण, मत्स्य-पुराण, ब्रह्माण्डपुराण, वायुपुराण तथा विष्णुपुराण में यह नाम उपलब्ध है। अतः सारिणी के आदिस्थित ३ नाम तथा अन्तिम नाम साक्ष्यान्तर से सिद्ध है। क्षेमक के बारे में लिखा है—

क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थास्यति कलौ युगे। —मत्स्य, ५०।८८

(ख) भारत-संग्राम-संवत् के अंक राज्यावधि के सूचक हैं।

नाम	वर्ष	मास	दिन	ईसापूर्व	संग्राम-संवत्
१. विश्रवा	१०	३	२९	१३६६ अग० २	१७८२
२. पुरसेनी	४२	१	२१	१३२४ सित० २३	१८२४
३. वीरसेनी	५२	१०	८	१२७१ अग० १	१८७७
४. अनंगशायी	४७	८	२३	१२२३ अप्रै० २४	१९२५
५. हरिजित्	३५	९	१७	११८७ फर्व०१०	१९६१
६. परमसेनी	४४	२	२३	११४३ मई २	२००५
७. सुखपाल[1]	३०	२	३१	१११३ अग० २	२०३५
८. कहुत	४२	९	२४	१०७० मई २६	२०७८
९. सज्ज	३२	२	१४	१०३८ अग० १०	२११०
१०. समरचूड़	२७	३	१६	१०११ नव० २६	२१३७
११. अमीपाल	२२	११	२५	९८८ नव० २०	२१६०
१२. दशरथ	२५	४	१२	९६३ अप्रै० १	२१०५
१३. वीरसाल	३१	८	११	९३२ दिस० १२	२२१६
१४. वीरसालसेन	४७	—	१४	८८५ दिस० २६	२२६३
			४९१ वर्षों का व्यवधान[2]		
१. वीर महा	३५	१०	८	८५० नव० ५	२२९८
२. अजीतसिंह	२७	८	१९	८२२ जुला० २२	२३२६
३. सर्वदत्त	२८	३	१०	७९४ नव० १	२३५४
४. भुवनपति	१५	४	१०	७७८ मार्च ११	२३७०
५. वीरसेन	२१	२	२३	७५७ मई १४	२३९१
६. महीपाल	४०	८	७	७१६ जन० २१	२४३२
७. शत्रुसाल	२६	४	३	६९० मई २४	२४५८
८. संघराज	१७	२	१०	६७३ अग० ३	२४७५
९. तेजपाल	२८	११	१०	६४४ जुला० १३	२५०४

(ग) ईसापूर्व वर्ष भी शासनकाल के अन्त के सूचक हैं। यथा—३१४८-१७७२=१३७६ ईसापूर्व। परन्तु अनुवादक महोदय ने मूलपाठ में १७७१ वर्ष ही लिखा है? (राजस्थान इतिहास, भूमिका २२)।

१. यह काल-गणना सौरवर्ष पर आधृत है, या चान्द्रवर्ष पर? इसका उत्तर सुखपाल की ३०।२।३१ दिवस-गणना से हो जाता है; सौर श्रावण के ३२ दिन होते हैं; यहाँ ३१ दिन उल्लिखित हैं ही।

२. मूल पाठ में ५०० वर्ष ३ मास १७ दिन लिखित हैं। (राजस्थान इतिहास, भूमिका २२)।

नाम	वर्ष	मास	दिन	ईसापूर्व	संग्राम-संवत्
१०. माणिकचन्द्र	२७	७	२१	६१६ मार्च ३	२५३२
११. कामसेनी	४२	५	१०	५७४ अग० १३	२५७४
१२. शत्रुमर्दन	८	११	१३	५६५ जुला० २६	२५८३
१३. जीवनलोक	२९	९	१७	५३६ मई १२	२६१२
१४. हरिराव	२६	१०	२९	५०९ अप्रै० ११	२६३९
१५. वीरसेन(२)	३५	२	२०	४७४ जून १	२६७४
१६. आदित्यकेतु	२३	११	१३	४५० मई १४	२६९८
			४३५ वर्षों का व्यवधान[1]		
१. धन्धर	४२	७	२४	४०७ जन० ७	२७४१
२. महर्षि	४१	२	२९	३६६ अप्रै० ५	२७८२
३. सनरच्ची	५०	१०	१८	३१५ फर्व० २४	२८३३
४. महायुद्ध	३०	३	८	२८५ जून ५	२८६३
५. दुरनाथ	२८	५	२५	२५७ नव० ३०	२८९१
६. जीवननाथ	४५	२	५	२११ मई ४	२९३७
७. रुद्रसेन	४७	४	२८	१६४ जुला० १	२९८४
८. अरीलक	५२	१०	८	१११ मई ९	३०३७
९. राजपाल	३६	—	—	७५ मई ९	३०७३
			३७५ वर्षों का व्यवधान[2]		
१. महानपाल[3]	१४	—	—	६१ मई ९	३०८७
१. विक्रमादित्य[4]	९३	—	—	३२ ईसवी	३१८०
* शालिवाहन[5]	—	—	—	३२ ईसवी	३१८०

---

१. मूल पाठ में ४४५ वर्ष, ५ मास और ३ दिन लिखे हैं। (वही, भूमिका २२)।

२. मूल पाठ में ३७४ वर्ष, ११ मास, २६ दिन लिखे हैं; यह गणना ठीक है। (वही, पृष्ट २३)।

३. महानपाल का शासन यदि न होता, तो अच्छा था; अनेक ऐसे सूत्र मिलते हैं, जिनसे मालव-विक्रमादित्य का शासन ७० ईसा-पूर्व बताया जा सकता है; संभव है, महानपाल कोई शक-प्रतिनिधि शासक हो!

४. मालव-विक्रमादित्य का शासन ५८ ईसा-पूर्व से माना जाता है। तीन वर्षों का समाधान खोजना होगा।

५. (क) गणना ठीक है—१७७२+४९१+४३५+३७५+१४+९३=३१८० वर्ष।

(ख) हमने सर्वत्र शालिवाहन का शासनारंभ ३२ ईसवी से माना है। यह काल-

गणना कितनी सुष्ठु और सुगठित है?—इसका निर्णय इस बात से हो जाता है कि इसका 'आरंभ' महाभारतीय संदर्भ में निहित है और 'अन्त' एहोले शिलालेख के बहिःसाक्ष्य पर निर्भर है; यथा—

"त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः; सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु।
पंचाशत्सु कलौ काले षट्सु पंचशतासु च; समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥"

अर्थात् भारत-संग्राम ३७३५, शकसंवत् ५५६; इन्हें ईसवी सन् में यूँ परिवर्तित करते हैं—

(१) ३७३५−३१४८=५८७ ईसवी;	मतान्तर से	३७३५−३१४७=५८८ ईसवी;
(२) ५५६+३१ =५८७ ईसवी।		५५६+३२ =५८८ ईसवी।

(ग) टिप्पणी सं० ४ में हमने एक वर्ष की भूल का उटंकन किया था; सो देखिए—३७३५−५५६=३१७९ वर्ष होना चाहिए था, है—३१८० वर्ष; एक वर्ष की भूल हज़म नहीं हो सकी।

(घ) संग्राम-संवत् ३१७९ में शककाल की बात स्वयं भास्कराचार्य ने लिखी है—नन्दाद्रीन्दु गुणास्तथा (३, १, ७, ९ अंकानां वामतो गतिः) शकनृपस्यान्ते कलेः वत्सराः।

—ए०–१०, अमर कालोनी,
लाजपत नगर-४,
नयी दिल्ली।

प्राच्य विद्याओं के दधीचि पुरातत्त्वाचार्य स्व० मुनि जिनविजय

डॉ० हरीश

⊙⊙

उदग्र व्यक्तित्व

सहज सादा परिधान, ऊंची-ऊंची धोती, ढीला कुर्ता, हाथ में ज्ञानदंड-सी छड़ी, गरिमा-पूर्ण मुखमण्डल, गुरुगंभीर विचारसंपन्न वाणी, शोधक की तीक्ष्ण दृष्टि से सम्पन्न नयनों में कांति, लम्बा चेहरा, विशाल उन्नत भाल और प्रशस्त ललाट, तीक्ष्ण यूनानी नासिका, सहज मुस्कान और औदार्य से अभिमंडित आकृति, आचार्य की असाधारण गरिमा और अध्ययन के तप से उजागर देही, सुदृढ़ स्कंध, आजानु बाहु, और छः फुट तीन इंच की लम्बी शरीर यष्टि, एकदम आर्य पुरुष—बस यही था व्यक्तित्व पद्मश्री मुनि जिनविजय जी का। उनकी पुण्यश्लोक काया वार्धक्य को समर्पित, जीवन के चतुर्थ प्रहर में भी उसी दिव्य उत्साह, विद्यानुराग और शोध की पगडंडियों को राजमार्ग से मिलाती अहरह शोध में रत रही। विश्वविख्यात चित्तौड़ दुर्ग से ६ मील दूर चन्देरिया नामक स्थान पर उन्होंने एक सर्वोदय साधना आश्रम बनाया। ऐसे महान् प्रातिभ आचार्य का ३ जून, १९७६ को स्वर्गवास हो गया।

सरल, स्पष्ट वाणी, निर्भीकता एवं खरी-खरी अभिव्यक्ति, एक ओर जहाँ उनकी दृष्टि को नीर-क्षीर विवेकी बताती थी, वहीं दूसरी ओर उनमें देशभक्ति का गौरव, एक आचार्य की गरिमा, विद्यानुराग, कला संमोह और एक श्रेष्ठ अनुसंधित्सु की ऊर्जा विद्यमान थी। भारतीय भाषाओं के महाप्राण पंडित, विचारक, प्राच्य और आर्ष की समग्र आत्मा के पूर्ण ज्ञाता, ज्ञान की प्यास से निरंतर तपी उनकी विचार-शृंखला, बोधगम्य वाणी, संस्कृत, प्राकृत, जर्मन, ग्रीक, लैटिन, अपभ्रंश, पाली, गुजराती, मराठी तथा राजस्थानी आदि भाषाओं के ज्ञाता, प्राच्य विद्याओं—वेद, वेदांग, न्याय, मीमांसा, तथा धर्म आदि—के समग्र साहित्य का मंथन करने वाले महाप्राण मुनिजी ने अपनी तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि से शोध-जगत् में अनेक कीर्तिमान स्थापित किये थे। यह प्राच्य विद्याओं का कृतित्व मुनि जिनविजय जी का वह कर्तृत्व है, जिससे राजस्थान विश्व में जाना जाता रहा है। शिलालेख, लिपि-विज्ञान, पाठ-विज्ञान, (टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म) पुरातत्त्व, हस्त प्रतिविज्ञान (मेन्यूस्क्रिप्टोलोजी) और प्राचीन साहित्य का अध्ययन, मनन, चिन्तन, एवं परिशीलन को उन्होंने धर्म की तरह किया था। वस्तुतः आचार्य श्री मुनि जिनविजय जी प्राच्य विद्याओं के दधीचि और प्राचीन भाषाओं और प्राच्य विद्याओं के एनसाइक्लोपीडिया या विश्वकोश थे। सादा भोजन, सादा जीवन एवं उच्च विचार ज्ञान के अनेक क्षितिजों का बड़े वैदुष्य से संस्पर्श किया था उन्होंने। उनकी प्रतिभा असामान्य थी। उनमें

आचार्यत्व की गरिमा , शोधक का महाप्राणत्व और विद्वान् का वर्चस्व विद्यमान था। सरस्वती उन पर अत्यन्त प्रीत थी और सदैव रही। उनका जीवन एक सच्चे साधक का जीवन था, जिस पर मां भारती को गर्व है।

मुनि जिनविजय जी के समग्र जीवन को यदि पढ़ा जाय, तो सहज ही आभास होगा कि उनका जीवन ऐसी दिव्य एवं विविध घटनाओं का संघात था, जो उन्हें भारत के श्रेष्ठतम मनीषी सिद्ध करने में सक्षम है। एक ओर जहां उनमें बाल सुलभ सारल्य था, वहीं दूसरी ओर उनमें एक निष्ठावान विचारक, गुरु गंभीर दार्शनिक एवं असाधारण शोधक की त्रिवेणी विद्यमान थी। वे सच्चे देशभक्त थे। अपने यौवन काल को उन्होंने राष्ट्रप्रेम और स्वतंत्रता प्राप्ति के विविध आन्दोलनों में पूज्य बापूजी के साथ लगा दिया था। वे बापू के वर्षों हम-राही रहे। उनका बहुमुखी व्यक्तित्व चतुर्दिक इतना विस्तार करता चला गया कि सृजन, शोध धर्म, राष्ट्र और राष्ट्रभाषा आदि सभी से वे जीवन की भांति जुड़े रहे। उन्होने भारतीय संस्कृति और राष्ट्रप्रेम गौरव के सभी यज्ञों में सोल्लास एवं सोत्साह भाग लिया था। उन्हें यदि राजर्षि कहें तो उनके व्यक्तित्व के साथ न्याय कर सकेंगे। किसे ज्ञात था कि राजस्थान के छोटे से गांव में उत्पन्न यह जीवन-बिन्दु किसी दिन एक प्राणवान सिन्धु बनकर ठाठे मारेगा। मुनि जी निश्चय ही भारत के विद्वान् रत्न थे।

मुनि जिनविजय जी का जन्म सन् १८८७ में राजस्थान के मेवाड़ प्रान्त के भीलवाड़ा जिले के एक अत्यन्त सामान्य ग्राम रूपाहेली में हुआ। उनके पिता श्री ठाकुर श्री वृद्धिसिंह जी (बिड़दसिंह जी) परमार क्षत्रिय कुल के दीपक थे। मुनि जी की महिमामयी मां का नाम था श्रीमती राजकुंवर (राजकुमारी)। ११ वर्ष की उम्र में ही उनके सिर से प्रभु ने पिता का साया उठा लिया था। माता ने उन्हें शैशव में रिणमल नाम दिया और पिताश्री उन्हें प्यार से किशनसिंह कहते थे। मुनि जी की माता राजकुंवर सिरोही राज्य की देवड़ावंशी चौहान जागीरदार की पुत्री थीं। उनके पिता सिरोही राज्य की सेवाओं में थे। अतः उनके सिरोही रहने से ११ वर्ष तक वे अपनी ममतामयी माता के पास रहे। इस काल में माता ने उनमें क्षत्रिय संस्कार कूट-कूट कर भरे। राष्ट्र-प्रेम का विराट् स्रोत उनके हृदय से फूट निकला। उनके पितामह और पिताश्री दोनों ने सन् १८५७ की क्रान्ति में, जमकर भाग लिया था; अतः उन्हें कइयों का कोप-भाजन बनना पड़ा था। पर मुनि जी को राष्ट्र प्रेम विरासत में मिला था। शैशव में ही राजपूत कुल के अनुसार उन्होंने शस्त्र विद्याएं सीख ली थीं। वे बड़े निर्भीक खिलाड़ी भी थे। दड़ी घोटा, गिल्ली डंडा, और कबड्डी के खेलों में वे विशेष पारंगत थे। पिताश्री की असामयिक मृत्यु ने बालक जिनविजय को कहीं का न रखा और वे शैशव में ही माता के आदेश पर यति देवीहंसजी ने उन्हें स्वर-व्यंजन सिखाये और ये आद्यगुरु उन्हें अपने साथ बानेण ले गए। बस इसके बाद उन्होंने अपनी माता के दर्शन इस जीवन में कभी नहीं किये। २१ वर्ष बाद जब वे मूर्द्धन्य विद्वान् एवं प्राज्ञ होकर जननी के दर्शनार्थ जन्मभूमि रूपाहेली में गये तब तक माता का देहावसान हो चुका था। माता की ममता और पिता के प्यार की भूख-प्यास की करुणा व उनका असामयिक वियोग इस मह-

नीय व्यक्तित्व के लिए एक करुणाजनक दर्द बन गया, जिसे वे भरे कंठ से कभी-कभी अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से सुनाते थे। यति जी के असामयिक देहावसान के बाद वे असहाय अजाने पथ पर निकल पड़े, एक यायावर की भांति। लेकिन इस प्रवास का प्रतिफल भी स्वाति की बूंद का सीपी में पड़ने की भांति हुआ था। इस दौरान उनका सम्पर्क देश की महान् विभूतियों से हुआ। महात्मा गांधी ने उन्हें अमोघ प्यार एवं अनुग्रह प्रदान किया तथा उनका रक्त राष्ट्र-प्रेम की उष्मा से उबलने लगा था। राष्ट्रीय आन्दोलनों में वे कई बार जेल गए थे। राजर्षि स्व० पुरुषोत्तमदास टंडन, स्व० सरदार पटेल, स्व० जमनालाल बजाज, स्व० राजगोपालाचार्य, आदि सभी उनके परम स्नेही थे। उनके जीवन के प्रेरणास्पद आदर्शों की किरणें मुनि जी के तपःपूत मुखमंडल पर सदैव मुखर रहीं। मुनि जी की मेधा, प्राच्यविद्यानुराग और अहरह अध्ययन और तप से प्रभावित हो, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ४ वर्ष तक उन्हें अपने पास रखा था और शान्तिनिकेतन में जैन चेअर स्थापित कर मुनि जी को जैन विद्यापीठ का आचार्य नियुक्त किया था। उनके संस्कृत-प्राकृत और पुरातत्त्व के पाण्डित्य से प्रभावित हो, पूज्य बापू ने उन्हें जर्मनी भेजा और जर्मन ओरियण्टल सोसाइटी ने उन्हें मानद सदस्य घोषित कर दुर्लभ सम्मान दिया था। यह गौरव प्राप्त करने वाले भारतीयों में महामना मुनि जी दूसरे विद्वान् थे। इस अभिषेक ने उन्हें संसार प्रसिद्ध ख्याति के क्षितिज पर स्थापित कर दिया। जिससे भारतीय गौरव की यशःकाय में अप्रतिम यौवन आया। राष्ट्रकवि स्व० मैथिली-शरण गुप्त उन्हें तपस्वी कहा करते थे। श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' उनके मनस्वी व्यक्तित्व के प्रशंसक थे। यही नहीं, मुनि जी की मनीषा और अध्ययन से प्रभावित हो भारत के दो-दो राष्ट्रपति स्व० राजेन्द्र बाबू एवं सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन अत्यन्त प्रीत होकर उनके प्राच्यविद्याओं एवं पुरातत्व के रत्नाकर में अवगाहन हेतु राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में दो बार पधारे। स्वर्गीय राजाजी उनके व्यक्तिगत मित्र थे। हिन्दी के सुमेरु आलोचक और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी उनसे बहुत प्रभावित थे तथा सरस्वती में उनके लेख अत्यन्त आत्मीयता से प्रकाशित करते थे। उनके यशस्वी पाण्डित्य का आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे शीर्षस्थ विद्वान् आज भी अत्यन्त ममता से स्मरण करते हैं। उनके प्रशंसकों में विद्वान् आलोचक और साहित्यकार डा० नामवरसिंह भी रहे हैं। डा० स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल उन्हें शोध, प्राच्यविद्याओं तथा पुरातत्व का निधान कलश कहते थे। निश्चय ही उनका व्यक्तित्व निष्कलुष एवं एक चूड़ान्त आचार्य की श्री सुषमा से अभिमंडित था—-अत्यन्त निस्पृह, आकर्षक एवं पूज्य।

शोध कर्तृत्व एवं सौकर्य

शोध क्षेत्र में उनका प्रवेश विद्युत् की भांति हुआ। उन्होंने इस अछूते क्षेत्र का परस जैन साहित्य संशोधक एवं भारतीय विद्या जैसी शोध की श्रेष्ठतम पत्रिकाओं की स्थापना

एवं सम्पादन से किया, जिसकी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भूरि-भूरि साधुवाद के साथ अत्यन्त मुक्तता से प्रशंसा की थी। वस्तुतः उनके व्यक्तित्व में एक विराट् शोधक एवं भारतीय विद्याओं का मूर्द्धन्य आचार्य विद्यमान था। उन्होंने अपने जीवन में जिन विशिष्ट शोध ग्रंथमालाओं का नीर-क्षीर विवेक से प्रारंभ प्रकाशन और नेतृत्व किया, वे अग्रांकित हैं:

१. श्री कान्ति विजय जैन ऐतिहासिक ग्रंथमाला : भावनगर
जैन आत्मानंद सभा के तत्वावधान में उन्होंने ८ श्रेष्ठ शोध ग्रंथों का प्रकाशन किया।

२. जैन साहित्य संशोधक ग्रंथमाला	: पूना—(कई ग्रंथ)
३. गुजरात पुरातत्व मंदिर ग्रंथमाला	: अहमदाबाद (कई ग्रंथ)
४. भारतीय विद्या ग्रंथमाला	: बम्बई—(भारतीय विद्याभवन मे अनेक ग्रंथ प्रकाशित किये)
५. सिन्धी जैन ग्रंथमाला	: कलकत्ता—(स्व० श्री बहादुरसिंह सिन्धी ने मुनि जी से अनेक ख्यातिलब्ध एवं दुर्लभ ग्रंथों का प्रणयन-प्रकाशन कराया)
६. राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला	: जोधपुर—(राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के तत्वावधान में ८० प्राच्यविद्याओं के ग्रंथ प्रकाशित किए)

उक्त सभी ग्रंथमालाओं से इस महाप्राण मनीषी द्वारा आज तक लगभग २५० ग्रंथों का प्रणयन और सम्पादन-प्रकाशन हो चुका है। इनमें सर्वाधिक ग्रंथ उन्होंने राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित किये, जिनकी विस्तृत सूची आगे प्रकाशित की जा रही है।

विशिष्ट प्रसंग

मुनिवर श्री जिनविजय जी के कर्तृत्व के अमोघ प्रशंसकों में देश के जो विशिष्ट व्यक्तित्व, साहित्यकार एवं शोधक थे उनके नाम लेना यहां उचित ही होगा। वे हैं:—स्व० श्री राजकुमार सिंह (कलकत्ता), स्व० श्री देवेन्द्रप्रसाद जैन (आरा), श्री केसरी चन्द्र भंडारी (इन्दौर), स्व० श्री पूरण चन्द्र नाहर (कलकत्ता), महामहोपाध्याय रायबहादुर स्व० श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (अजमेर), पुरातत्ववेत्ता स्व० श्री काशीप्रसाद जायसवाल (पटना), प्रख्यात

एपिग्राफिस्ट डा० हीरानन्द शास्त्री, स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (रायबरेली), जर्मन निवासी स्व० ताराचन्द राय, स्व० श्री सत्यदेव परिव्राजक तथा स्व० श्री राहुल सांकृत्यायन। यही नहीं, इनके साथ उक्त विद्वानों और आचार्यों का भरपूर पत्राचार भी हुआ था, जिसे उन्होंने 'मेरे दिवंगत मित्रों के कुछ पत्र' शीर्षक से पुस्तकाकार चन्देरिया से प्रकाशित किया था। स्व० आचार्य द्विवेदी उन्हें कितना सम्मान देते थे, इसके प्रमाणस्वरूप हम यहां उनके पत्रों के दो छोटे-छोटे अंशों को अविकल उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं। पत्र हैं :—

(१) श्रीमान मुनि जी महाराज,

कृपा करके इस लेख को पढ़ जाइये। इसमें जो शब्द या नाम आदि अशुद्ध हों उन्हें शुद्ध कर दीजिये। विचारों में जहां भ्रम हो, दूर कर दीजिये। उचित समझिए तो और भी अपने किसी मित्र को दिखा लीजिए। निस्संकोच संशोधन कर इसे मेरे पास लौटा दीजिये। पर शीघ्र। पुस्तक भंडारों पर आपका लेख कम्पोज हो गया। जनवरी की सरस्वती में निकलेगा। जेकोबी साहिब के पत्र आपको लौटा दिये जावेंगे।

विनीत

महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य द्विवेदी ने जूही कानपुर से सन् १९२२ की ११ मार्च को उन्हें दूसरा पत्र लिखा—

श्रीमतां वरेषु मुनिवर जिनविजय महोदयेषु।

निवेदनमिदम्—कृपा सूचक पत्र मिला। प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग २ की कापी मिली। कृतज्ञ हुआ। आपको मेरा स्मरण बना है, यह मेरा सौभाग्य है। पुस्तक दिव्य है, बड़े ही महत्व की है। बड़े श्रम से आपने तैयार की है। अनेक प्राचीन ऐतिहासिक बातों पर प्रकाश डालने वाली है।

विनीत

महावीरप्रसाद द्विवेदी

('मेरे दिवंगत मित्रों के कुछ पत्र' कृति से साभार)

राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा मुनिजी महाराज को लिखे अपने प्रत्येक पत्र को इसी प्रकार प्रारंभ करते थे। श्रीमान विद्वद्वराग्रगण्य महाराज श्री जिनविजय जी के चरण सरोज में सेवक गौरीशंकर हीराचंद ओझा का दण्डवत प्रणाम स्वीकृत हो। ओझा जी ने अपने पत्रों में मुनि जी को—विद्वद्रत्न, परम सम्मानास्पद, पूज्यपाद, आचार्य श्री परम श्रद्धेय एवं विद्वद्वराग्रगण्य आदि श्रद्धास्पद विशेषणों एवं सम्बोधनों का प्रयोग किया था। उक्त सभी विद्वानों द्वारा लिखित पत्रों के मूलादर्श मुनिजी महाराज के पास सुरक्षित थे जिन्हें उन्होंने सन् १९७२ में सर्वोदय साधना आश्रम, चन्देरिया (चित्तौड़) से प्रकाशित किया था। इन पत्रों में स्व० श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल के पत्र शोध के अनेक मौलिक अध्याय खोलते हैं।

उनके लिये अजस्र प्रीति रखनेवाले. विशिष्ट व्यक्ति थे—स्व० बापू, स्व० राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, स्व० चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य एवं विश्ववंद्य गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर।

इतने विस्तार से इस बहुमुखी व्यवितत्व के जीवन को आज तक जिन घटनाओं ने घेरा था, यहां उनकी एक सूक्ष्म तालिका प्रस्तुत की जा रही है, जिससे उनके जीवन की राष्ट्र-सेवा तथा शोध एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी सेवाओं का सर्वाङ्ग स्वरूप सामने आ सके। ये घटनायें शोध अनुसंधित्सुओं के लिये निश्चय ही जीवन्त हैं। प्राच्यविद्याविद् महाप्राण मुनिजिनविजय जी के जीवन का प्रामाणिक घटनाचक्र इस प्रकार है:

जीवन की प्रमुख घटनाएँ

सन् १८८७-	जन्म-ग्राम रूपाहेली मेवाड़ जिला भीलवाड़ा। शैशव के नाम रिणमल एवं किशनसिंह।
सन् १८९८	पिता–श्री बिड़दसिह का देहावसान।
सन् १९००	यति देवी हंस जी का शिष्यत्व ग्रहण, एवं छोटे भाई बादल सिंह का स्वर्गवास।
सन् १९०१	सुखानंद तीर्थ में शैवयोगी का शिष्यत्व।
सन् १९०२	जैन धर्म में दीक्षित एवं नय नाम-मुनि जिनविजय का प्रादुर्भाव।
सन् १९०३	धार में चातुर्मास एवं प्रो० भंडारकर से परिचय।
सन् १९०४	उज्जैन क्षेत्र में भ्रमण एवं चातुर्मास।
सन् १९०८	स्थानवासी संप्रदाय का त्याग एवं विद्याध्ययन में लीन तथा मूर्तिपूजक संवेगी सम्प्रदाय का साधुत्व ग्रहण।
सन् १९०९ –१५	शत्रुंजय महातीर्थ, बड़ौदा, डभोई, केसरिया, और सूरत, मेहसाना तथा पाटण में चातुर्मास तथा पाटण के ग्रंथ भंडारों का अध्ययन।
सन् १९१६	सरस्वती में शाकटायन पर जीवन का प्रथम लेख तथा पहले ग्रंथ जैन तत्व सार का प्रकाशन।
सन् १९१६	जैन ऐतिहासिक ग्रंथमाला का प्रकाशन तथा कृपारस कोश, शत्रुंजय, उद्धार, जैन शिलालेख संग्रह (प्रथम), जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य, द्रौपदी स्वयंवर नाटक एवं कुमार पाल प्रतिबोध आदि ग्रंथों का सम्पादन।
सन् १९१७-१९१८	बम्बई में चातुर्मास लोकमान्य तिलक से भेंट (भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट में अध्ययन)।
सन् १९१८	पूना में चातुर्मास तथा ५०,००० रु० से भारत जैन विद्यालय की स्थापन।। यहीं प्रथम प्राच्य विद्या सम्मेलन में भाग लिया तथा जैन साहित्य संशोधक समिति की स्थापना और ग्रंथमाला का प्रकाशन, प्रो० गुणे, रानाडे, तथा कर्वे से निकट का सम्बन्ध बना।

सन् १९१९	सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी में पूज्य बापू से परिचय एवं विचार-विनिमय।
सन् १९२०	महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया तथा पूज्य बापू के साथ बम्बई होते हुए अहमदाबाद आगमन। यहीं बापू द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ का कार्यभार संभाला तथा इसी विद्यालय में गुजरात पुरातत्व मंदिर की स्थापना करके 'पुरातत्त्व' नामक शोध पत्र निकाला व पुरातत्त्व मंदिर ग्रंथावली प्रारंभ की।
सन् १९२१	नागपुर कांग्रेस में बापूजी के साथ भाग लिया एवं जैन पोलिटिकल कान्फ्रेंस की अध्यक्षता की तथा कई दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्मेलनों की अध्यक्षता।
सन् १९२३	जैन शिक्षण संघ संस्था की स्थापना तथा जैन जागृति पत्र का संपादन।
सन् १९२४-२५	प्रमुख क्षेत्र अहमदाबाद रहा एवं जैन साहित्य संशोधक की सम्यक् प्रकाशन-व्यवस्था की।
सन् १९२६	जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० शूबिंग से भेंट एवं मित्रता। बापू जी द्वारा जर्मनी जाने की प्रेरणा।
सन् १९२८	बम्बई से जर्मनी के लिये प्रस्थान। ४ माह ब्रिटिश म्यूजियम लंदन में प्राच्यविद्या के ग्रंथों के अध्ययनार्थ निवास। तदनन्तर यूरोप के बेल्जियम तथा फ्रांस का भ्रमण करके हैम्बर्ग (जर्मनी) में पहुंचे। जर्मनी के प्रो० ल्यूडंस से मित्रता। जर्मनी में इसी वर्ष भारतीयों के लिये हिन्दुस्थान हाउस की स्थापना के साथ भारतीय विद्याओं एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसारार्थ—इण्डो जर्मन केन्द्र की स्थापना।
सन् १९२९	महात्मा गांधी के आदेश से राजनैतिक हलचलों को लेकर पुनः भारत आगमन एवं सरदार वल्लभ भाई पटेल से विचार-विनिमय। यहीं से स्व० महादेव भाई की प्रेरणा से बापू के साथ लाहौर कांग्रेस में भाग लिया। फिर श्री सिन्धी के आमंत्रण पर कलकत्ता प्रस्थान।
सन् १९२९	गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के शान्तिनिकेतन के विश्व भारती केन्द्र में जैन शिक्षा पीठ की स्थापना कर उसका कार्यभार संभाला। बम्बई में महात्मा जी की आज्ञा पर नमक सत्याग्रह के लिए डांडी-यात्रा। यहीं से जेल कारावास के लिए नासिक गए। नासिक जेल में स्व० जमनालाल बजाज, के० नरीमान, एवं के० एम० मुन्शी (स्व०) से परिचय हुए। जेल अवधि काटकर बम्बई चले गए जहां मुनिजी व मुंशी जी का भव्य स्वागत हुआ।
सन् १९२९-३४	के उत्तरार्द्ध में मुंशी जी की प्रगाढ़ आत्मीयता से भारतीय विद्याभवन का कार्य शुरू करने का संकल्प लिया। फिर कुछ छात्र-छात्राओं

के साथ शांतिनिकेतन पहुंचे - वहीं विद्याभवन में गुरुदेव ने जैन चेअर स्थापित की एवं मुनिजी को संचालक बनाया। यहीं से सिन्धी जैन ग्रंथमाला का प्रारंभ हुआ। चार वर्ष शांतिनिकेतन में रहकर प्राच्य विद्याओं और पुरातत्व का अध्ययन-अध्यापन और ग्रंथ-सम्पादन।

सन् १९३५-३७ उदयपुर राज्य द्वारा बिठाये आयोग के केसरिया जी के स्वामित्व के मुकदमे में लगे और कायदेआजम श्री जिन्ना व श्री मोतीलाल सेतलवाड़ एवं मुंशी जैसे विधिवेत्ताओं से विचार-विनिमय करके केसरिया जी के स्वामित्व के मुकदमे को समाप्त किया एवं पुनः शोधरत हो गए।

सन् १९३८-४१ भारतीय विद्याभवन की स्थापना की तथा राजस्थान हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन की उदयपुर में अध्यक्षता की। बम्बई में रहकर वे सिन्धी जैन ग्रंथमाला एवं भारतीय विद्याभवन के संचालन को सफलतापूर्वक संभालते रहे। १९४३ में विद्याभवन के आनरेरी डायरेक्टर बने और १९५४ तक अपनी मानद सेवायें दीं।

सन् १९४२-४३ जेसलमेर के प्राचीन ग्रंथ भंडारों में अध्ययन रत हुए।

सन् १९४४-४५ में उदयपुर में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष बने व राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने मुनिजी के कहने से श्री मुंशी को अध्यक्ष बनाया।

सन् १९४६-४७ में उदयपुर में प्रताप विश्वविद्यालय की स्थापना की योजना बनाई व उसके संयोजक बनायें गये। बाद में वे दिल्ली कान्स्टीट्यूएंट एसेम्बली की ओर से भाषा विषयक समिति के सदस्य बनाए गए।

सन्१९४८-४९ मई में चित्तौड़गढ़ के पास चन्देरिया में सर्वोदय साधना आश्रम की स्थापना की।

सन् १९५०-५१ सन् १९५० में राजस्थान सरकार के आग्रह पर राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की स्थापना की एवं उसके आनरेरी निदेशक नियुक्त हुए। यहां से पुरातन ग्रंथमाला का प्रकाशन किया। इस प्रतिष्ठान के जोधपुर स्थित भवन का शिलान्यास स्व० राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने किया।

सन् १९५२ में जर्मन ओरियण्टल सोसाइटी ने उन्हें आनरेरी मेम्बर बनाकर सर्वोच्च सम्मान दिया। यह दुर्लभ सम्मान प्राप्त करनेवाले भारतीयों में मुनिजी दूसरे व्यक्ति हैं।

सन् १९६२ भारत के राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी ने उनके व्यक्तिगत गुणों के कारण उन्हें 'पद्मश्री' की उपाधि प्रदान कर राष्ट्र की ओर से उनका सम्मान किया।

सन् १९६३ में भारतीय विद्याभवन बम्बई ने सम्मानित सदस्य घोषित कर उन्हें विशिष्ट सम्मान दिया।

सन् १९६४ हरिभद्र सूरि स्मारक बनाया। इसी वर्ष राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर ने उन्हें अपनी सर्वोच्च 'मनीषी' उपाधि प्रदान कर सम्मानित किया।
सन् १९६७ में प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के मानद निदेशक पद से मुक्त हो गये।

समापन

सन् १९६७ के बाद पुरातत्वाचार्य मुनि जिनविजय जी अपने सर्वोदय साधना आश्रम चन्देरिया (चित्तौड़गढ़) में निवास करते थे। चित्तौड़ में उन्होंने भामाशाह भारतीय भवन एवं महापण्डित, विद्वान् आचार्य हरिभद्र सूरि स्मारक आदि दो प्रसिद्ध भवन निर्मित कराए। १५ फरवरी, १९७३ को आपने चित्तौड़ दुर्ग के द्वार पर स्थित इस हरिभद्र सूरि स्मारक में आचार्य हरिभद्र की प्रतिमा स्थापन महोत्सव किया था। शैशव से ही मातृछाया से वंचित मुनि श्री ने अपनी ममतामयी मां की स्नेह स्मृति में ३५,०००) रु० की राशि लगाकर एक मातृभवन अपनी जन्मभूमि रूपाहेली (भीलवाड़ा) में निर्मित किया, जिसमें ग्राम की शिशुशाला लगती है।

जीवन के चतुर्थ प्रहर में एक संन्यासी-सा जीवन व्यतीत करते थे। स्वल्पाहार और अपरिग्रह के वे साकार प्रतिरूप थे। अत्यन्त मितभाषी। उनका गुरुत्व पारस की भांति हो गया था। वार्धक्य में भी उनकी स्फूर्ति अजेय थी। अहर्निश शोधकार्य में, (आंखों की दृष्टि कम हो जाने पर भी), व्यस्त। वही गुरु गंभीर व्यक्तित्व, वही अखंड पाण्डित्य उनकी मुखाकृति पर पूर्ण-श्री की भांति विद्यमान थी।

लेखक उनके संपर्क में सन् १९५४ से आया और उसे दो दशकों तक उनका वही अजस्र स्नेह और आशीर्वाद प्राप्त करने का गौरव प्राप्त था। लेखक के शोध कार्य पर वे सदैव प्रीत रहे। देश-विदेश के सैकड़ों छात्रों ने इस महनीय व्यक्तित्व से शोध निर्देश पाये हैं। उनके निदेशन में अनेक पी–एच० डी० एवं डी० लिट्० की उपाधियां प्राप्त कर चुके हैं, जिनमें डा० भायाणी और लेखक दो उदाहरण के रूप में लिये जा सकते हैं। लेखक को उनको गुरु कहने का अधिकार और गौरव प्राप्त है। आज भारतीय विश्वविद्यालयों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी का कोई बिरला ही विद्वान् होगा जो उन्हें न जानता हो। पृथ्वीराज रासो का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्कूल उन्हीं के द्वारा स्थापित हुआ। बनारस, पूना, गुजरात, बम्बई, कलकत्ता, जयपुर आदि सभी विश्वविद्यालयों में उनकी शोध के कीर्तिमान स्थापित हैं और जो रेखाएँ शोध के क्षेत्रों में उन्होंने खींची हैं उनको शताब्दियों तक मिटाना दुष्कर रहेगा।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जयपुर (अब जोधपुर) पूरे १७ वर्षों तक उनकी कर्मभूमि रहा। जिन्होंने उन्हें श्रद्धा दी है, वे उनके व्यक्तित्व के प्रति सहज नत हैं। वे दर्शन, जैन साहित्य, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा न्याय, तर्क, मीमांसा, ज्योतिष, रसायन एवं तंत्र आदि प्राच्य विद्याओं के पण्डित एवं मर्मज्ञ ऋषि और औदार्य, स्नेह, ममत्व और निष्ठादि सभी मानवीय गुणों के उदात्त कोष थे। उनका समग्र जीवन क्षण-अनुक्षण राष्ट्र को समर्पित रहा। उनके द्वारा आश्रम चन्देरिया में बनाया सर्व देव मन्दिर विविध धर्म सम्प्रदायों का

एक भावनात्मक एकत्व प्रस्तुत करता है। श्रम उनका साध्य था। अध्यवसाय और स्वाध्याय उनका धर्म था। उनके व्यक्तित्व में अलौकिक गुणों का समावेश था, यह निर्भ्रान्त है। हम प्रभु से ऐसे महान आचार्य और वैदुष्य के साकार, प्रतिरूप व्यक्तित्व के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में वे १७ वर्ष मानद विशेषज्ञ रहे। प्राच्य विद्याओं के निधान कलश, कीर्तिपुरुष देशभक्त एवं अपूर्व प्राच्य विद्यानुरागी महाप्राण व्यक्तित्व को राजस्थान साहित्य अकादमी ने १९६५ में अपनी सर्वोच्च उपाधि 'मनीषी' प्रदान कर अपने गौरव में वृद्धि की थी। भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मश्री' ही प्रदान किया जबकि वे समाज, राष्ट्रीय आन्दोलन, शिक्षा, शोध सभी क्षेत्रों में बेजोड़ सिद्धियों के होते मनीषी रहे और हमारी धारणा में वे भारतरत्न के अधिकारी थ। भारतीय विश्वविद्यालयों में से किसी भी विश्वविद्यालय के लिये यह अत्यन्त गौरव की बात होती कि वह उन्हें डी० लिट्० से सम्मानित करता। मुनि जिनविजय जी में सागर जैसा गहरा मानस और नगराज हिमालय जैसा ऊंचा शोधक था। यह आचार्य बहुत मौन साधक था जो महत्वाकांक्षा से मीलों दूर था।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान से उन्होंने संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश, ज्योतिष, तंत्र, आयुर्विज्ञान, आयुर्वेद, राजनीति तथा साहित्य के जो विराट् ८० प्राच्य विद्या के ग्रंथों का प्रकाशन किया है, उनकी नामावली देना लेखक अपना पवित्र दायित्व मानता है। आशा है सुधी अनुसंधित्सु और विद्वान् इससे लाभान्वित होंगे।

ये कृतियां इस प्रकार हैं:—

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से मुनिजी द्वारा प्रकाशित सम्पादित ग्रंथों की सूची

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	सम्पादक
१.	त्रिपुरा भारती लघुस्तवः	मुनि जिनविजय
२.	कर्णामृतप्रपा	मुनि जिनविजय
३.	बाल शिक्षा व्याकरण	मुनि जिनविजय
४.	प्रमाण मंजरी	पट्टाभिराम शास्त्री
५.	यन्त्र राज रचना	केदारनाथ ज्योतिर्विद
६.	महर्षिकुल वैभवम्	गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
७.	वृत्तिदीपिका	पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी
८.	राजविनोद महाकाव्य	गोपालनारायण बहुरा
९.	तर्क संग्रह पक्किकका	प्रो० जितेन्द्र जेटली
१०.	प्राकृतानन्द	मुनि जिनविजय
११.	कान्हड़दे प्रवन्ध	कान्तिलाल बलदेवराम व्यास

१२.	उक्तिरत्नाकर	मुनि जिनविजय
१३.	क्यामखां रासा	डा० दशरथ शर्मा, अगरचन्द भंवरलाल नाहटा
१४.	कूर्मवंशयप्रकाश (लावारासा)	महताबचन्द्र खारेड़
१५.	शृंगारहारावली	डा० प्रियबाला शाह
१६.	कृष्णगीतिः	डा० प्रियबाला शाह
१७.	वृत्तसंग्रह	डा० प्रियबाला शाह
१८.	कारक सम्बन्धोद्योत	डा० हरिप्रसाद शास्त्री
१९.	शब्द रत्नप्रदीपः	डा० हरिप्रसाद शास्त्री
२०.	चक्रपाणि विजय महाकाव्य	प्रो० केशवराम काशीराम शास्त्री
२१.	वांकीदारा री ख्यात	नरोत्तमदास स्वामी
२२.	दुर्गा पुष्पांजली	गंगाधर द्विवेदी
२३.	दशकण्ठ वधम्	गंगाधर द्विवेदी
२४.	नृत्य रत्नकोश भाग १	प्रो० आर० सी० पारीख एवं डा० प्रिय बाला शाह
२५.	नृत्य रत्नकोश भाग २	प्रो० आर० सी० पारीख एवं डा० प्रिय बाला शाह
२६.	कर्णकुतूहल नाटक, कृष्ण लीलामृत काव्य	गोपालनारायण बहुरा
२७.	राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग १	नरोत्तम दास स्वामी
२८.	वासवदत्ता कथा	डा० जयदेव मोहनलाल शुक्ल
२९.	ईश्वर विलास महाकाव्य	भट्ट मथुरानाथ शास्त्री
३०.	पद्य मुक्तावली	भट्ट मथुरानाथ शास्त्री
३१.	राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज	पं० ब्रह्मदत्त त्रिवेदी
३२.	जुगलविलास	रानी लक्ष्मीकुमारी चूड़ावत
३३.	बीरवांण	रानी लक्ष्मीकुमारी चूड़ावत
३४.	कवीन्द्रकल्प लता	रानी लक्ष्मीकुमारी चूड़ावत
३५.	गोरा बादल पद्मिणी चउपई	डा० उदयसिंह भटनागर
३६.	वसन्त विलास फागु	मधुसूदन चिमनलाल मोदी
३७.	स्वयम्भूछंद	हरिदामोदर वेल्हणकर
३८.	पदार्थरत्न मंजूषा	मुनि जिनविजय
३९.	चान्द्रव्याकरण	पं० बेचरदास जीवराज दोसी
४०.	गोरा बादल चरित्र	मुनि जिनविजय

४१.	रसदीर्घिका	गोपालनारायण बहुरा
४२.	हस्तलिखित ग्रंथ सूचि भाग १	
४३.	भगतमाल	उदयराज उज्जवल
४४.	राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथ सूची, भाग १	
४५.	वस्तु रत्न कोष	डा० प्रियबाला शाह
४६.	काव्य प्रकाश प्रथम भाग	प्रो० रसिकलाल छो० परीख
४७.	काव्य प्रकाश द्वितीय भाग	प्रो० रसिकलाल छो० परीख
४८.	मुहंता नेणसी री ख्याति भाग १	बद्रीप्रसाद साकरीया
४९.	मुहंता नेणसी री ख्याति भाग २	बद्रीप्रसाद साकरीया
५०.	रघुवरजस प्रकाश	सीताराम लालस
५१.	हस्तलिखित ग्रंथ सूची (भाग २)	गोपालनारायण बहुरा
५२.	राजस्थानी साहित्य संग्रह (भाग २)	पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
५३.	राजस्थानी साहित्य संग्रह (भाग ३)	लक्ष्मीनारायण गोस्वामी
५४.	भुवनेश्वरी महास्त्रोत्रम्	गोपालनारायण बहुरा एवं लक्ष्मीनारायण गोस्वामी
५५.	सूरज प्रकाश भाग १	सीताराम लालस
५६.	सूरज प्रकाश भाग २	सीताराम लालस
५७.	राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथ सूची भाग २	डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
५८.	महर्षिकुलु वैभवम् (मूल)	प्रद्युम्न शर्मा
५९.	रत्नपरीक्षादि सप्तग्रंथ-संग्रह	
६०.	वृत्तजाति समुच्चय	हरिदामोदर वेल्हणकर
६१.	कविदर्पण	हरिदामोदर वेल्हणकर
६२.	नेहतरंग	रामप्रसाद दाधीच
६३.	एकाक्षरनामकोशसंगह	पन्यास रमणीकविजय
६४.	हम्मीर-महाकाव्य	मुनि जिनविजय
६५.	मत्स्य-प्रदेश की हिन्दी साहित्य को देन	डा० मोतीलाल गुप्त
६६.	सूरजप्रकाश भाग ३	सीताराम लालस
६७.	समदर्शी आचार्य हरिभद्र	अनु० शान्तिलाल जैन
६८.	वृत्तमुक्तावली	भट्ट मथुरानाथ शास्त्री
६९.	इन्द्रप्रस्थ प्रवन्ध	डा० दशरथ शर्मा
७०.	ए केटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स (पार्ट १)	मुनि जिनविजय
७१.	मुहंता नेणसी री ख्यात भाग ३	बद्रीप्रसाद साकरीया

७२.	बुद्धि विलास	पद्मधर पाठक
७३.	रुक्मिणी हरण	पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
७४.	प्रतापरासो	डा० मोतीलाल गुप्त
७५.	संति कवि रज्जब	डा० ब्रजलाल शर्मा
७६.	ए केटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स (पार्ट २ ए)	मुनि जिनविजय
७७.	भक्तमाल	अगरचन्द नाहटा
७८.	वृत्तमोक्तिक	म० विजयसागर
७९.	पश्चिमी भारत की यात्रा	गोपालनारायण बहुरा
८०.	ए केटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स (भाग २ बी)	मुनि जिनविजय
८१.	ए केटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स पार्ट २ सी	मुनि जिनविजय
८२.	विन्हैरासो	सोभाग्यसिंह शेखावत
८३.	सौढायण	शक्तिदान कविया
८४.	ए केटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स (पार्ट ३ ए)	मुनि जिनविजय
८५.	मुहंता नेणसी री ख्यात, भाग ४	बद्रीप्रसाद साकरिया
८६.	पाठ्य रत्नकोष	गोपालनारायण बहुरा
८७.	ए केटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मन्युस्क्रिप्ट्स (पार्ट ३ बी)	मुनि जिनविजय
८८.	चण्डी शतक टीकाद्वय सहित	गोपालनारायण बहुरा
८९.	मीरां बृहत्पदावली, प्रथम भाग	हरिनारायण पुरोहित
९०.	स्थूलिभद्र काकादि	डा० आत्माराम जाजोदिया
९१.	राजस्थानी वीरगीत संग्रह, भाग १	सौभाग्यसिंह शेखावत
९२.	गज गुण रूपक बन्ध	सीताराम लालस
९३.	वेताल पच्चीसी	डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
९४.	मारवाड़ रा परगना रीविसत भाग १	नारायण सिंह भाटी
९५.	राजस्थानी वीरगीत संग्रह भाग २	सौभाग्यसिंह शेखावत
९६.	संघपति रूपजी वंश प्रशस्ति	महोपाध्याय विजयसागर

--राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोटा

हिन्दी कविता की सामान्य भूमि

विश्वम्भर 'मानव'

⊙ ⊙

साहित्य सभ्यता का चिन्ह है। वह मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का एक मानदंड भी है। संसार के सभी प्रमुख देशों तथा उनकी विकसित भावनाओं में साहित्य अपने समृद्ध रूप में पाया जाता है। इस विशाल वाङमय को देखते हुए यह प्रश्न उठाना बेकार है कि साहित्य की सार्थकता क्या है? सत्य, शिव और सुंदर की खोज में जिन माध्यमों से सहारा मिला, उसमें साहित्य भी एक है। ये माध्यम हैं धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान और मनोविज्ञान आदि। इनके द्वारा मनुष्य की चेतना अपने रहस्य को विविध रूपों में उद्घाटित करती है। इनके द्वारा मनुष्य स्वयं को समझता है, व्यक्त करता है, महत्त्वपूर्ण बनाता है, अपने बाहर और अंतर के अनंत विस्तार में विचरण करता है। वह पृथ्वी पर अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने और अमर होने के स्वप्न देखता है। इतना होने पर भी, चेतना का पर्याय बनने की क्षमता इनमें से किसी में नहीं है। प्रत्येक माध्यम उसके किसी न किसी पक्ष को व्यंजित करता है। सब मिलकर भी वे मानवीय चेतना को तुष्ट नहीं कर सकते। यह चेतना ऐसी ही विराट, अगाध, अनंत आयामों वाली और रहस्यमय है। साहित्य की भी इस दिशा में अपनी सीमाएं हैं। इस बात को समझकर किसी भी माध्यम के संबंध में, विशेष रूप से साहित्य के, अतिवादी मंतव्य व्यक्त करने से बचना चाहिए। अपने स्थान पर प्रत्येक माध्यम की अपनी सार्थकता और उपयोगिता है। ऐसा न हो, तो फिर जीवन एकांगी, एकरस और असंतुलित हो जाय।

विज्ञान के प्रभाव के कारण संसार के सभी देश अब एक दूसरे के बहुत निकट आ गए हैं और वहाँ की महान् कृतियों से हम सीधे या अनुवाद के द्वारा परिचित हैं। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि काव्य की कुछ सामान्य विशेषताएँ होती हैं। वह दिन दूर नहीं जब मनुष्य एक अंतर्राष्ट्रीय प्राणी होगा और कविता को इसी रूप में पहचाना जायगा। हमारी दृष्टि से काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी अंतर्राष्ट्रीय मानदंडों पर ही आधारित होनी चाहिए।

लेकिन इस कसौटी पर तो गिने-चुने लोग ही ठहर पायेंगे।

अधिसंख्यक लोगों का ध्यान रखें, तो प्रत्येक देश की परिस्थितियों, वहाँ निवास करने वाली जाति की सांस्कृतिक दृष्टि और भाषा का प्रभाव वहाँ के काव्य पर पड़ता है। इस दृष्टि से प्रत्येक देश और वहाँ की भाषा और एक आत्मा होती है। और यह आत्मा ही वहाँ

के काव्य की मौलिकता और निजी विशेषताओं का निर्णायक तत्त्व बनती है। कोई कवि अपने दृष्टिकोण में चाहे कितना ही उदार हो; पर यह आवश्यक है कि वह हृदय से अपने देश और अपनी भाषा को प्यार करता हो। उसके काव्य में उसकी जन्म-भूमि की मिट्टी की महक होनी चाहिए।

कवियों की श्रेष्ठता की एक कसौटी हम प्रतिभा के आधार पर कर सकते हैं। प्रतिभा की व्याख्या करना कठिन है। वह ईश्वरीय देन है और प्रयत्न करने से प्राप्त नहीं हो सकती। इस अलौकिक शक्ति के आधार पर कवि असाधारण कोटि की रचनाओं को जन्म देता है। ऐसे प्रतिभाशाली कवि शताब्दियों में कभी-कभी जन्म लेते हैं। इससे कुछ हल्की कसौटी क्षमता की है जो अध्ययन और निरंतर अभ्यास से प्राप्त होती है। यों साहित्य के इतिहास में कभी-कभी प्रतिभाहीन और क्षमताहीन कवियों की चर्चा भी विशेष कारणों से होती है; पर किसी भाषा के काव्य की विशेषताओं के विवेचन के लिए प्रतिभाशाली और क्षमतावान् कवि ही विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होते हैं। प्रतिभा की भी अपनी कोटियाँ हैं और क्षमता की भी। इस दृष्टि से प्रथम और द्वितीय श्रेणी के कवियों की संख्या भी कुछ कम नहीं होती। यों वैषम्य से किसी श्रेष्ठ रचनाकार के गुणों को उभारने के लिए घटिया किस्म के लेखकों की चर्चा करना भी कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है।

किसी कवि का मूल्यांकन उसकी रचनाओं के आधार पर और उनके भीतर से ही होना चाहिए। केवल इसी दशा में हम उसके कृतित्व की निजी विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। लेकिन वह किसी काल-खंड में प्रचलित एक या एक से अधिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व भी करता है, अतः उसके काव्य को तत्कालीन काव्य के संदर्भ में रखकर परखना भी उचित ही कहा जायगा। इतना ही नहीं, उसे उस युग विशेष के परिप्रेक्ष्य में भी देखना चाहिए जिसका अंश वह काल-खंड है। लेकिन किसी कवि के सही स्थान का निर्णय उसे सम्पूर्ण काव्य की छाया में रखकर ही हो सकता है। काव्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक दृष्टि यही है। यह हो सकता है कि साधारण कोटि के कवि तुलनात्मक अध्ययन से पृष्ठभूमि में पड़ते दिखायी दें; पर श्रेष्ठ कवियों और श्रेष्ठ काव्य की परख इसी पद्धति से हो सकती है।

पिछले एक हजार वर्ष की कविता में जो बात अधिक स्पष्ट रही है वह यह कि इसमें कभी बाह्य वर्णनों की प्रधानता रही, कभी आंतरिक उन्मेष की। प्रारंभ में सिद्धों, नाथों और जैन कवियों की वाणी रहस्यमय, साधना-परक और प्रेम एवं अहिंसा के सिद्धांतों को लेकर चली। वीरगाथा-काल में उसका मुख्य विषय युद्ध और प्रेम रहा। इसके उपरांत भक्ति-काल में अध्यात्म-भाव की प्रधानता हुई। संतो, सूफ़ियों, राम-भक्तों और कृष्ण-भक्तों ने दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति भावनाओं की पवित्रता और गहराई से की। इसमें योग, प्रेम, भक्ति और ज्ञान सभी काव्य के विषय बने। इसके उपरांत रीति-काल से लेकर द्विवेदी-युग तक का एक लंबा काल आया, जिसमें वस्तु-परक रचनाएं प्रधान हो उठीं। इसके अंतर्गत हम रीति-कालीन नायक-नायिकाओं के वर्णन को भी लेंगे। भारतेन्दु युग के देश-प्रेम, समाज-

सुधार और भाषा-प्रेम को भी तथा द्विवेदी-युग के पुनर्जागरण की भावना से प्रेरित पौराणिक चरित्रों को युग की मांग के अनुसार नए रूप में ढालने को भी। छायावाद-युग में कवि कहीं प्रकृति में चेतना के दर्शन करने लगा, कहीं संतों और सूफ़ियों के समान अपनी आत्मा को उस परमात्मा के प्रेम में आकुल पाने लगा, कहीं वस्तुओं को न देखकर उनमें निहित सौंदर्य को खोजने लगा और कहीं मनोविकारों की गहराई में डूबकर मानवीय चेतना के विकास का इतिहास प्रस्तुत करने लगा। इसका ह्रास होने पर प्रगतिवाद उभरा जो जीवन की सभी समस्याओं का समाधान साम्यवाद के प्रचार में खोजने लगा। इसके बाद आया प्रयोगवाद जिसने पहले मनोविश्लेषण का सहारा लिया और बाद में अस्तित्ववाद का। इस प्रकार वह कभी अवचेतन की गहरी घाटी में उतरा और कभी उसने हताश-भावना, कुंठा और ऊब के वातावरण की सृष्टि की। इस प्रकार भाव-परक कविता के उपरांत वस्तु-परक और वस्तु-परक रचनाओं के बाद भाव-परक रचनाओं की यह शृंखला आदि-काल से लेकर आज तक बनी हुई है और आशा है स्थूल और सूक्ष्म का यह संघर्ष अनंत काल तक ऐसे ही चलता रहेगा।

हिंदी-काव्य का इस देश के निवासियों के स्वभाव से घनिष्ठ संबंध है और उस स्वभाव का यहाँ की जलवायु से। आर्य वीर जाति के लोग थे। अनार्य भी घोर संघर्ष के उपरांत उनके अधीन हुए थे। इसके उपरांत अनेक युद्ध-प्रिय जातियों के आक्रमण इस देश पर होते रहे। लेकिन जो जातियाँ यहाँ घुलमिल गयीं या जिन लोगों ने इस देश को अपना देश बना लिया, उनके भीतर से लड़ाकू प्रवृत्ति धीरे-धीरे लुप्त होने लगी। सभी जातियों में ऋषि-मुनि, भिक्षु, श्रमण, सूफ़ी संत, साधु, फ़कीर, भक्त महंत आदि होते रहे हैं। कुछ की तो अभी तक गद्दियाँ चल रही हैं जैसे शंकराचार्य की। ये लोग सच्चे हृदय से प्रेम, अहिंसा और सद्भाव के प्रचारक और प्रसारक रहे हैं। यदि देश की आत्मा होती है, तो यह इस देश की आत्मा का प्रभाव है। रामायण और महाभारत दो महायुद्धों को लेकर चलते हैं। वीरगाथा-काल और रीति-काल में युद्ध हुए। बीसवीं शताब्दी दो महायुद्धों का काल रहा है। जायसी, तुलसी और केशवदास आदि के महाकाव्यों में युद्धों का प्रभावशाली वर्णन पाया जाता है। आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद और दिनकर आदि ने अपने प्रबंध-काव्यों में युद्ध का वर्णन किया है। फिर भी इस देश का कोई कवि युद्ध का प्रेमी नहीं प्रतीत होता। वह वीर के स्थान पर शांत रस का अनुरागी ही दिखायी देता है। आज के कुछ युवा कवि अस्तित्व-वाद के प्रभाव से आत्म-हत्या की चर्चा फैशन के रूप में करने लगे हैं; लेकिन यहाँ हत्या या आत्महत्या को जीवन का मूल्य कभी स्वीकार नहीं किया गया। मृत्यु से अधिक जीवन, हिंसा से अधिक अहिंसा और घृणा से अधिक प्रेम को ही यहाँ के काव्य में स्थान मिला है।

हमारे देश में राजाश्रय को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। वीरगाथा-काल तथा रीति-काल के उन कवियों को जिन्होंने किसी सम्राट् या राजा के दरबारी कवि के रूप में रहकर रचनाएं कीं, उचित सम्मान की दृष्टि से कभी नहीं देखा गया और न उनकी रचनाओं

के प्रति पूरा न्याय ही किया गया। यही दृष्टि वीराश्रयी कवियों के प्रति भी बनी रही। आधुनिक युग में सेठाश्रय को तो और भी हीन दृष्टि से देखा जाता है, चाहे किसी लेखक की रचनाओं का उससे कोई सीधा संबंध हो या न हो। इसी प्रकार सरकारी अधिकारी को यदि वह लेखक भी है, तो कठिनाई से उचित मान्यता मिलती है, यहाँ तक कि यदि वह पहले लेखक रहा है और बाद में सरकारी काम-काज से सम्बद्ध हो गया है तो ऐसा समझा जाता है कि उसमें कुछ कमी आ गई है। अब तो जो लोग किसी राजनीतिक दल से अपनी प्रति-बद्धता घोषित करते हैं, उनके निहित स्वार्थ पर व्यंग्य करने की प्रवृत्ति पनप रही है। कहा जाता है कि ऐसे लेखक यहाँ या वहाँ से पैसा पाते हैं अथवा विदेश जाने या पुरस्कार पाने के लिए लालायित हैं। इन सब लेखकों को एक शब्द में 'बिके हुए लोग' कहा जाता है। इनकी तुलना में संत महात्माओं का, साधकों का, संघर्षशीलों का, अभाव में जीवन व्यतीत करने वालों का कहीं अधिक सम्मान है। उनकी रचनाओं की त्रुटियों पर भी पाठकों और आलोचकों की दृष्टि कम जाती है। यह एक विचित्र स्थिति है। संसार में सुख-सुविधामय जीवन व्यतीत करने वाले सब लेखक निश्चित रूप से कहीं न कहीं खोटे होते हैं और उसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर पड़ता है तथा सभी अभावग्रस्त या लौकिक उन्नति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने वाले प्राणी श्रेष्ठ रचनाकार, यह कहना कठिन है; लेकिन किसी लेखक के संबंध में विचार करते समय इस परम्परागत धारणा का प्रभाव पड़ता अवश्य है। इसे 'भार-तीय संस्कार' कहा जा सकता है।

इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर हमारे यहाँ लौकिक काव्य से अधिक अलौकिक काव्य को पसंद किया जाता है। प्राचीन-काल में भक्ति-युग श्रेष्ठतम माना जाता है। उसका एक कारण यह भी है कि उसमें लौकिक जीवन का तिरस्कार पाया जाता है। वहाँ जीवन का अंतिम मूल्य अध्यात्म घोषित किया गया है। संसार माया का जाल है और माया मन को मलिन करती है, विकृतियों को उभारती है। न जाने किस अपराध के लिए उस काल के महान् कवि अपने को पतित और पापी कहते रहे तथा नारी को सभी अवगुणों की खानि और महाविकार बतलाते रहे। धर्म से मंडित, दर्शन से बोझिल तथा नीति और उपदेश से आच्छादित इस लेखन में वास्तव में कितना काव्य है और कितना अकाव्य, इसका लेखा-जोखा आज तक किसी ने नहीं लिया। परम्परा से जो धारणा बद्धमूल हो गयी, उसी का समर्थन सब करते चले आ रहे हैं। अलौकिक काव्य में भी निर्गुण से अधिक सगुण को श्रेष्ठ समझा जाता है और अद्वैतवाद की तुलना में विशिष्टाद्वैत या शुद्धाद्वैत को वरीयता प्रदान की जाती है, जबकि यह निश्चित है कि शंकराचार्य से बड़ा दार्शनिक हमारे यहाँ कोई नहीं हुआ। काव्य में अद्वैतवाद के निरंतर विरोध के कारण आधुनिक रहस्यवाद को भी वायवी कहकर उड़ा दिया जाता है। यह प्रवृत्ति कहाँ तक न्यायोचित है, नहीं कहा जा सकता; लेकिन हमारे यहाँ काव्य में लौकिक से अधिक अलौकिक और अलौकिक में भी निर्गुण से अधिक सगुण को महिमा-मंडित करने की प्रथा रही है।

प्रेम की व्यापक वृत्ति पर भी इस भारतीय संस्कार का प्रभाव पड़ा है। सबसे श्रेष्ठ

वह प्रेम जो भगवान के चरणों में निवेदित होता है, चाहे वह भक्ति के रूप में हो यार हस्यवाद के। उसके उपरांत वह प्रेम जो हमारे आराध्य और आराध्या के बीच चलता है जैसे सीता-राम और राधा-कृष्ण का। फिर वह प्रेम जिसमें विरह की प्रधानता है। कहीं भी स्थूलता आयी नहीं कि भारतीय मन भड़क उठता है। हिंदी-काव्य में इसी से संयोग के वर्णन बहुत कम पाये जाते हैं। वीरगाथा-काल के प्रेम को सामंती प्रेम और रीतिकालीन प्रेम को विलास कहकर हिंदी का आलोचक उसकी निंदा करता हुआ उसे गर्हित ठहराता है। मर्यादित प्रेम की प्रशंसा होनी चाहिए, लेकिन मन की तनिक-सी छूट को अश्लीलता की संज्ञा देना अनुचित है। गद्य में हमारा पाठक इस बात को बुरा नहीं समझता। बीसवीं शताब्दी की साठोत्तरी पीढ़ी की कुछ कहानियाँ जितनी अश्लील हैं, उतनी अश्लीलता पूरे रीति-काव्य में कुल मिलाकर नहीं पायी जाती। इसी प्रकार स्वाधीनता के बाद किसी-किसी उपन्यास में जितना फूहड़पन और गँवरपन मिलता है उतना पूरे हिंदी-काव्य में नहीं मिलेगा। लेकिन गद्य में जिस अश्लीलता, नग्नता और अभद्रता की यथार्थवाद के नाम पर प्रशंसा की जाती है, उसके शतांश को भी हिंदी-कविता का पाठक सहन नहीं कर पाता। जीवन में चाहे वह कुछ भी करे, लेकिन काव्य में श्रृंगार से उसे चिढ़ है। इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करके आज का कवि भी कुछ अधिक चतुर हो गया है। जब उसके काव्य में कोई घोर श्रृंगार की ओर इंगित करता है, तो वह या उसका आलोचक उसे 'कामाध्यात्म' की संज्ञा देता है। आशय यह कि इस काम में अध्यात्म का पुट है या इसकी परिसमाप्ति अध्यात्म में होती है। जनता की मूल मनोवृत्ति का सामना करने का साहस न होने से इस हल का प्रयोग छायावादी कवियों को भी कभी-कभी करना पड़ा हैं। कुछ भी हो, पर सत्य बात यह है कि सामान्य भारतीय पाठक अभी तक मर्यादित प्रेम के वर्णन का ही पक्षपाती रहा है।

ऐसा लगता है कि कविता का जन्म भाव की अभिव्यक्ति के लिए मूलतः हुआ है। जीवन में भाव को बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। जब यह कहा जाता है कि वह बड़ा भावुक व्यक्ति है या वह तो रात-दिन भावना में डूबा रहता है या ऐसी भावुकता किस काम की, तब स्पष्ट रूप से भाव को एक निकम्मे व्यक्ति की विशेषता माना जाता है। लेकिन मनुष्य के हृदय में भावना का अपार समुद्र लहराता रहता हैं। इस भावना से किसी के लिए भी मुक्ति पाना कठिन है। कलाकार तो विशेष रूप से भावना-प्रवण प्राणी होता है। काव्य में यही भावना फूल की भांति खिल उठती है।

कवि अपनी भावनाओं का अंकन तो करता ही है साथ ही उसे यह शक्ति भी दी गयी है कि वह दूसरों के अंतःकरण में प्रवेश कर उनकी भावनाओं का वर्णन भी कर सके। चंदबरदाई, तुलसीदास, सूरदास, बिहारी, प्रसाद आदि नें जहाँ पृथ्वीराज, राम-रावण, राधा-कृष्ण, रीतिकालीन नायक-नायिकाओं और मनु-श्रद्धा की भावनाओं का वर्णन किया है, वहाँ ठाकुर बोधा, पंत, निराला, मीरां, महादेवी, बच्चन, अज्ञेय आदि ने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। इन कवियों की कृतियों से भावनाओं की विविधता, तीव्रता, परुषता, कोमलता, आर्द्रता और उच्चता का पता चलता है। भावनाओं की अभिव्यक्ति कहीं-

कहीं अतिरंजित रूप में हुई है, वह कहीं-कहीं अस्वाभाविक भी प्रतीत होती है, पर उससे मनुष्य के हृदय के रहस्य का भी पता चलता है। मन का विश्लेषण जिस रूप में कवियों ने किया है उसमें मनोविज्ञान की न जाने कितनी सामग्री बिखरी पड़ी है। यदि काव्य न होता, तो हृदय का यह इतिहास अलिखित ही रह जाता।

प्राणियों के वीच से बढ़कर यह संबंध प्रकृति के क्षेत्र में गया। प्राचीन काल में हिन्दी के कवि प्रकृति से उदासीन रहे, उसके माध्यम से आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति हुई, उपदेश दिए गए और सबसे अधिक उद्दीपन और उपमानों के रूप में उसका उपयोग हुआ। लेकिन जिस दिन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया कि प्रकृति भी चेतन है, उस दिन से कवियों का उसके प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया। आधुनिक युग में प्रकृति एक स्वतंत्र विषय के रूप में हिन्दी कवियों के सामने आयी। मनुष्य प्रकृति को पहले भी प्रेम करता रहा होगा। लेकिन यह प्रेम मूक ढंग का था। अब यह खुलकर सामने आया। फूल, बादल, लहर, चाँदनी आदि के प्रति भाव का वैसे ही प्रदर्शन होने लगा जैसे किसी भी आत्मीय व्यक्ति के प्रति। छायावादी कवियों ने और भी गहरे जाकर इस बात को अनुभव किया कि प्रकृति की वस्तुएं एक दूसरे के अनुराग में आबद्ध हैं। जिस भावना का पहले आरोप मात्र होता था, वह सब सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हुई। भौंरा और कमल, किरण और लहर, मेघ और मयूर, नदी और समुद्र वास्तव में एक दूसरे को प्रेम करते हैं या नहीं, कहा नहीं जा सकता; लेकिन जब कविता में इनके प्रेम को प्रस्तुत किया गया, तो वह विश्वसनीय प्रतीत होने लगा। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृति का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है, वह चेतन है और उसके तत्त्व भावना का अनुभव वैसे ही करते हैं जैसे स्त्री और पुरुष। हिन्दी में प्रकृति परमात्मा को भी प्रेम करती दिखायी गयी है।

भावना के अनेक केन्द्रों में से मनुष्य और प्रकृति के उपरांत एक केन्द्र ईश्वर भी है। भारतवर्ष आस्तिकों का देश है। पिछले एक हजार वर्ष से हम एक भी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानते जो नास्तिक हो और बहुत बड़ा कवि हो। आस्तिकता के अंतर्गत ईश्वर की कल्पना सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में हुई। सगुण के अन्तर्गत राम, कृष्ण और शिव के प्रति विशेष रूप से भाव की अभिव्यक्ति हुई। निर्गुण ब्रह्म को कहीं पुरुष माना गया, कहीं नारी। क्योंकि ईश्वर से कोई भी संबंध स्थापित किया जा सकता है; अतः उसे पिता, माता, स्वामी, सखा, पति, पत्नी, जैसा मन में आया, कल्पित कर लिया गया। ईश्वर से भावों का आदान-प्रदान संभव है या नहीं, उसके दर्शन किसी को हुए हैं या नहीं, निश्चित रूप से कहना कठिन है। लेकिन हिन्दी कवियों में से कुछ ने उसके साथ भाव का संबंध स्थापित करके दिखा दिया है और यह कहने के लिए बहुत बड़ा साहस चाहिए कि कबीर, तुलसी और मीरां आदि का अपने उपास्य के प्रति भाव का संबंध झूठा था।

हिन्दी-काव्य की मूल भावधाराओं में सबसे बड़ा योग अध्यात्म का है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह तीन बार उभर कर आता है—सिद्धों और योगियों के काल में, भक्ति काल में तथा छायावाद युग में। सिद्धों में आध्यात्मिक संकेत अवश्य पाये जाते हैं; लेकिन

एक तो वे निम्न जाति के लोगों में से आये थे, दूसरे सिद्धि की प्राप्ति के लिए मदिरा, मांस, मैथुन आदि पंच मकार का सेवन खुले रूप में करते थे; अतः समाज पर उनके आचरण और उनकी रहस्यमयी वाणी का कोई शुभ प्रभाव नहीं पड़ा। इसी से आगे चलकर गोरखनाथ ने अपनी रचनाओं में चरित्र की पवित्रता पर बहुत बल दिया। कबीर एक ऐसे अध्यात्म-पुरुष थे जिनकी दृष्टि व्यक्ति और समाज दोनों पर समान रूप से थी। उन्होंने व्यक्ति की 'कथनी' और 'करनी' में एकता स्थापित की तथा अपने से पूर्व की कई शताब्दियों की विचार-धारा का मंथन करके उसे अधिक व्यवस्थित और निर्मल रूप में प्रस्तुत किया। वैष्णवों की प्रशंसा और शाक्तों की निन्दा उन्होंने इसी दृष्टि से की है। उनकी 'सहज साधना' योग की चरम सीमा की परिचायिका है। अपने समय तक की धीरे-धीरे विकसित होती हुई आध्यात्मिक चेतना के वे प्रतिनिधि साधक हैं। हिन्दी के वे प्रथम महान् रहस्यवादी कवि हैं। उन्होंने भक्ति और ज्ञान के ऊपर प्रेम की प्रतिष्ठा की। इस प्रेम का विकास सूफ़ी विचार-धारा के अन्तर्गत मलिक मुहम्मद जायसी ने किया। प्रेम की पुष्टि के लिए उन्होंने प्राणी की आत्मा में निहित सौन्दर्य को जगाया। हिन्दी काव्य में जायसी सौन्दर्य के सबसे बड़े कवि हैं। प्रेम के लिए आकर्षण की आवश्यकता है और आकर्षण सौन्दर्य से होता है। उनके विचार से सृष्टि के कण-कण में बिखरा सौन्दर्य उसी परम सुंदर की अनुपम कांति का प्रतिबिम्ब है। व्यक्ति को प्रेम करना उसी को प्रेम करना है। अतः जहाँ संतों ने संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न की, वहाँ सूफ़ियों ने अनुरक्ति, और तब भक्तों ने ईश्वर को स्वर्ग से पृथ्वी पर उतार दिया। कबीर और जायसी की जो व्यक्तिगत अनुभूति थी, उसे सूरदास ने सामूहिक और सामाजिक बनाया। कृष्ण के प्रति गोपियों का आत्म-निवेदन, जिसमें रास के रूप में मिलन और भ्रमर-गीत के रूप में विरह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है, उसी कोटि के अंतर्गत आता है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने उपास्य को और भी व्यापक व्यक्तित्व प्रदान किया। उनके 'रामचरितमानस' में आर्य और अनार्य संस्कृतियों का संघर्ष चित्रित है। इस संघर्ष में राम ने सत् का पक्ष लेकर असत् को पृथ्वी से मिटा दिया। इस प्रकार भक्ति-काल में संसार के प्रति विरक्ति से लेकर लोक-कल्याण की भावना के विकास का इतिहास अपने में अद्भुत और अत्यन्त रोचक है।

आधुनिक काल में अध्यात्म की यह भावना वेश बदल कर कई रूपों में उद्भूत हुई। यहाँ उसका भक्ति का स्वरूप भी बना रहा और रहस्यवाद का भी। द्विवेदी-युग के पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्री मैथिलीशरण गुप्त ने पौराणिक कथाओं को युग के अनुकूल नए साँचों में ढाला। उनके कृष्ण और राम अलौकिक पुरुष होते हुए भी देश-भक्त और समाज-सेवी हैं। राधा और सीता को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे भी यह लगता है कि ये बीसवीं शताब्दी की ही सृष्टि हो सकती हैं। छायावादी कवियों में रहस्य-भावना का स्फुरण एक नूतन पद्धति पर हुआ। 'प्रसाद' शैव मत के आनंदवाद से, निराला रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद की विचारधारा से, महादेवी अद्वैतवाद और पंत पश्चिम के रोमांटिक कवियों एवं अरविंदवाद से प्रभावित रहे। इन चारों पर उपनिषदों के गंभीर अध्ययन का

प्रभाव विभिन्न रूपों में पाया जाता है। इसी से इनके काव्य की दिशाएं एक दूसरे से थोड़ी भिन्न रही हैं। यह भिन्नता ही इनकी मौलिकता की परिचायिका है। अतीत के कवियों से ये इस बात में भिन्न हैं कि जहाँ संत, सूफ़ी और भक्त लौकिकता से बहुत ऊपर उठे हुए थे, वहाँ ये उससे सम्पृक्त रहे। इसी से लोग आज भी इनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। वास्तव में, सारा दोष आधुनिक जीवन-दृष्टि का है। इनमें श्री सुमित्रानंदन पंत प्रारभ से ही एक समन्वयवादी कवि रहे हैं। उन्होंने अरविंदवाद को अपनाया ही इसलिए है कि उसके माध्यम से मौलिकता और अध्यात्म के समन्वय की बात उठायी जा सके। उनके अनुसार लौकिक सुख-समृद्धि से निरंतर घिरे रहने पर भी यह संभव है कि व्यक्ति आध्यात्मिक पुरुष हो सके। यह एक अत्यन्त विवादास्पद विषय है जिसका समाधान अंतिम रूप से कठिन है। रामधारी सिंह 'दिनकर' पर इस आधुनिक विचारधारा का प्रभाव और भी गहराई से पड़ा। उनके 'उर्वशी' काव्य-रूपक में पुरूरवा गंधमादन पर्वत पर उर्वशी के साथ भोग-विलास में आपादमस्तक डूबकर भी चेतना की ऊंचाइयों की बात करता है। कोई आपत्ति न करे; अतः 'दिनकर' ने इस प्रवृत्ति को 'कामाध्यात्म' की संज्ञा दी है। उनके विचार से 'काम' और 'अध्यात्म' के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं है। यहीं तक नहीं, अस्तित्ववादी 'अज्ञेय' भी अब 'क्वाँरी आत्मा' की बात करने लगे हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय वायुमंडल में ही कुछ ऐसा है कि यहाँ का कवि अध्यात्म के मोह से अपने को मुक्त नहीं कर सकता।

इससे यह न समझा जाय कि भारतीय कवि की भौतिकता के प्रति ललक नहीं रही। वीरगाथा-काल के दो ही प्रमुख विषय हैं—युद्ध और प्रेम। उस समय आत्म-रक्षा के लिए युद्ध हुए भोग के लिए प्रेम। चंदवरदाई और जगनिक जैसे कवियों ने दोनों वृत्तियों को वीरों की शोभा माना। रीति-काल में पूरे दो सौ वर्ष तक काव्य में लौकिक प्रेम का आधिपत्य रहा। इस काव्य में जीवन की स्वस्थ गंध पायी जाती है। मन की छूट भी कहीं-कहीं है जो उसी भावना का अतिरेक है। भारतेन्दु युग ने हमें देश-भक्ति और समाज-सुधार के दो नए विषय दिए। राष्ट्रीय चेतना के विकास का परिचय हमें श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं से मिला। यहाँ एक अन्याय की ओर हम काव्य के प्रेमियों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने चंद को 'चारण' और भूषण को 'हिन्दू जाति का प्रतिनिधि कवि' कहा है। इसके पीछे जो आशय निहित है उसे एक सीमित अर्थ में ही स्वीकार करना चाहिए। चंद और भूषण असत् के विरुद्ध सत् का पक्ष लेने वाले कवि हैं। अतः अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध शस्त्र उठाने वालों का पक्ष यदि इन कवियों ने लिया तो कोई अनुचित अथवा अराष्ट्रीय काम नहीं किया। यह ठीक है कि राष्ट्रीय भावना का प्रयोग बीसवीं शताब्दी में जिस अर्थ में होता है, बारहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में उस अर्थ में नहीं हो सकता था, फिर भी चंद, भूषण और निराला सभी समान रूप से अपने देश को प्यार करते रहे हैं। प्रेम की कोमलता और कमनीयता प्रसाद, निराला, पंत की रचनाओं में तो झलमलाती ही है, उसके हर्ष-विषाद की सरल और स्वाभाविक अभिव्यक्ति

सबसे अधिक 'बच्चन' के गीतों में हुई। सन् १९३५ के उपरांत इस देश में साम्यवादी विचार-धारा का प्रचार होने पर किसान, मज़दूर और जन-साधारण के दुःख-दर्द के प्रति सहानुभूति तथा पूंजीपतियों के प्रति आक्रोश की भावना जिन कवियों के द्वारा व्यक्त हुई उनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और मुक्तिबोध मुख्य हैं। प्रयोगवादी काव्य में मन के ऊहापोह का विश्लेषण कभी सुलझे और कभी उलझे रूप में असंख्य तानों-बानों में हुआ। हिन्दी के प्रायः सभी कवियों में चिन्तन के आधार पर नीति, उपदेश और निजी धारणाओं का जो व्यावहारिक ज्ञान पाया जाता है, वह सांसारिक जीवन को सुखमय और सफल बनाने के लिए ही है। इस प्रकार हिन्दी कवि की चेतना भौतिकता के अनेक रूपों को भी समय-समय पर समेटती चली है।

हिन्दी में प्रबंध-काव्यों की एक लंबी परंपरा पायी जाती है। इसके अन्तर्गत खंड-काव्य और महाकाव्य दोनों आते हैं। पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस, प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायनी, लोकायतन और महाभारती आदि अपने-अपने ढंग के गौरव-ग्रंथ हैं। इस युग में अकेले मैथिलीशरण गुप्त ने बीस सुंदर खंड-काव्यों की रचना की है, जिनमें जयद्रथ-वध, पंचवटी और नहुष अत्यन्त सफल बन पड़े हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी के तीनों खंड काव्य-- मिलन, पथिक, और स्वप्न राष्ट्रीय भावना से प्रेरित राजनीतिक चेतना के प्रतीक हैं। पंत की ग्रंथि, प्रसाद का आँसू और निराला का तुलसीदास अपने ढंग की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। महाकाव्यों के संबंध में तो कहा ही क्या जाय? व्यक्तिगत रूप से उस देश में जन्म लेना मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ, जहाँ 'रामचरितमानस' जैसे दिव्य ग्रंथ की रचना हुई हो। यदि हिन्दी का सब कुछ नष्ट हो जाय और केवल 'मानस' बचा रहे, तब भी हमारे काव्य की श्रेष्ठता और महत्ता असंदिग्ध रहेगी। इन महाकाव्यों में जीवन की जिस सम्पूर्णता का अंकन हुआ है, वह हमारी मानवीय अपूर्णताओं के लिए चिरंतन प्रेरणा का स्रोत सिद्ध हो सकती है। कवियों की असाधारण मेधा से उत्पन्न इनमें ऐसी अनिर्वचनीय भव्यता और सुंदरता निहित है जो जगत् के व्यापक प्रसार में जन-साधारण को सामान्यतः नहीं दिखायी पड़ती। आलोक के इन तत्त्वों से जब हमारा साक्षात्कार होता है, तो कुछ क्षण के लिए हम एक प्रकार के बड़प्पन का अनुभव करते हैं। यह दूसरी बात है कि संसार के सम्पर्क में आकर हम फिर साधारण रह जाते हों। इस एक छोटी-सी बात से ही समय-समय पर महाकाव्यों के अनुशीलन के महत्त्व को समझा जा सकता है।

जैसे भाव काव्य को गहराई प्रदान करता है, वैसे ही विचार गंभीरता, विचार के अनेक क्षेत्र हैं। हिन्दी-काव्य मूलतः गंभीर काव्य है। इसका बहुत बड़ा कारण दार्शनिक पक्ष है। हिन्दी के अनेक प्रतिष्ठित कवियों की रचनाएं दार्शनिकता से भाराक्रांत हैं। उनके काव्य से यदि दार्शनिकता को निकाल दिया जाय, तो उनकी स्थिति क्या होगी, यह अनुसंधान का एक मनोरंजक विषय होगा। इस बात को निःसंकोच भाव से स्वीकार कर लेना चाहिए कि दर्शन के क्षेत्र में हिन्दी कवियों में मौलिक चिन्तन का अभाव है। सभी कवि किसी महान् दार्शनिक या मतवाद के ऋणी रहे हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ है कि दर्शन ने धर्म को प्रभावित किया है और दोनों के सम्मिलित योग ने कवि को। कबीर और महादेवी अद्वैतवाद से, जायसी

सूफी मत से, तुलसी विशिष्टाद्वैतवाद से, सूरदास शुद्धाद्वैतवाद से, प्रसाद प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आनंदवाद से, निराला रामकृष्ण और विवेकानन्द की विचारधारा से, पंत अरविंद दर्शन के नवचेतनावाद से तथा अज्ञेय अस्तित्ववाद से प्रभावित रहे। अतः इन कवियों ने शंकराचार्य, सूफ़ी साधकों, रामानंद, वल्लभाचार्य, शैवागम, श्री अरविंद और सार्त्र-यास्पर्स आदि की साधना और चिन्तन से पूरा लाभ उठाया है। ऐसा नहीं हुआ कि हिन्दी में पहले कोई बहुत बड़ा दार्शनिक हुआ हो और बाद में एक महान् कवि के रूप में भी उसकी ख्याति हुई हो।

पिछले एक सहस्र वर्ष की हिन्दी-कविता पर सम्पूर्णता की दृष्टि से विचार करें, तो उसका मूल स्वर उदात्त है। किसी भी प्रकार की संकीर्णता से वह दूर है। उसे हिन्दू-मुसलमान सभी का योग प्राप्त हुआ है और जातीयता या प्रादेशिकता की भावना से वह बहुत ऊंची उठी हुई है। हिन्दी में लिखने वाले प्रत्येक कवि ने चाहे वह जन्म से कुछ भी रहा हो, इस देश की गरिमा का पूरा ध्यान रखा है। आज तो वह भारतीय संस्कृति की उज्ज्वल आलोक-शिखा होने के साथ अंतर्राष्ट्रीय चेतना की वाहिका भी है। अस्तित्ववाद के दूषित प्रभाव के कारण कुंठा, ऊब, संत्रास, घुटन, तनाव, अजनबीपन, जीवन की अर्थहीनता और मृत्यु के वरण की जो अशुभ भावनाएं एक अंध आवेग की भांति स्वतंत्रता के उपरांत सहसा फैल गयी थीं, वे अब धीरे-धीरे संतुलित होकर क्षीण होती चली जा रही हैं। हिन्दी-कविता में व्यक्तिवादी स्वर कभी बहुत प्रबल नहीं रहा, आज भी नहीं है। सामयिक से अधिक वह सदैव देश-काल का अतिक्रमण करने वाली रही है। आज भी इस स्थिति में बहुत अंतर नहीं आया है। हमारी कविता का अधिकांश जीवन के सकारात्मक और श्रेष्ठतम मूल्यों का समर्थक और पोषक है। संक्षेप में, मानवता के सुंदरतम सार का दूसरा नाम हिन्दी-कविता है।

तब क्या हिन्दी का काव्य अपने में पूर्ण है? ऐसा नहीं कहा जा सकता। भविष्य में हिन्दी कविता की अनेक संभावनाएं हैं। लेकिन एक तो वह स्वयं कवियों के निर्णय का विषय है, दूसरे एक स्वतंत्र लेख की मांग करता है। इस समय तो हम उपलब्ध सामग्री के ही एक बड़े अभाव की ओर संकेत करके इस निबंध को समाप्त करेंगे।

सब कुछ होते हुए भी ऐसा लगता है कि जीवन और जगत् की अपार सुंदरता की ओर अभी हमारे कवियों का ध्यान गया ही नहीं है। हिन्दी-कविता कभी भी मनुष्य को केन्द्र में रखकर नहीं चली सामान्य जन को तो बिल्कुल नहीं। दर्शन, धर्म और अध्यात्म से प्रभावित हिन्दी का काव्य परिमाण में विपुल है और लौकिक काव्य की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण भी। अतीत और वर्तमान दोनों में वह हमारे श्रेष्ठतम कवियों की देन है। आवश्यकता इस बात की है कि भविष्य में कवि लौकिक काल की दरिद्रता दूर करें—शुद्ध ऐहिक अर्थ में। अब भावनाओं के आध्यात्मीकरण की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी उन्हें सहज रूप में कलात्मक बनाकर मार्मिक ढंग से व्यक्त करने की। इसके लिए हमें परलोक से दृष्टि हटाकर इस धरती को प्रेम करना होगा। जीवन को प्रेम करना होगा। जीवन की सुंदरता को स्वीकार करना होगा। इसके लिए मनुष्य को ईश्वर के निकट न ले जाकर मनुष्य के निकट लाना होगा।

यह बात खेद के साथ कहनी पड़ती है कि हमारे देश में बहुत बड़े अध्यात्मवादी, बहुत बड़े दार्शनिक, बहुत बड़े धर्मवेत्ता, बहुत बड़े राजनीतिज्ञ और बहुत बड़े समाज-सुधारक हुए हैं; पर जीवन का बहुत बड़ा प्रेमी कोई नहीं हुआ। संभव है भविष्य में कोई ऐसा प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न हो। जीवन को किसी अन्य तत्त्व के अधीन करना उसे बहुत छोटा करना है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि जीवन से महान् और कुछ नहीं है। जीवन का लक्ष्य यह जीवन ही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-मान्यताएँ

डॉ० विजय शुक्ल

⊙ ⊙

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी सन् १९०३ में सरस्वती के सम्पादक हुए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल सन् १९०९ में हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में पदार्पित हुए, जब वे नागरी प्रचारिणी सभा के हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादन के लिए मिर्जापुर से काशी आये। मिर्जापुर में वे मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर थे। उन्होंने स्वतंत्र रूप से मिर्जापुर के आस-पास की प्राकृतिक सुषमा व वनस्थली से प्रेरणा पाकर मुक्तक, कविताएं लिखी थीं। उन्होंने आर्नोल्ड कृत 'लाइट आफ एशिया' का 'बुद्ध-चरित' का 'मौलिक-अनुवाद' किया। सन् १९०४ में उनकी एक कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हुई थी। आचार्य शुक्ल मौलिक प्रतिभा लेकर आलोचना के क्षेत्र में आये थे। पाश्चात्य आलोचकों व कवियों के काव्य का भी स्वतंत्र रूप से उन्होंने अध्ययन किया था। यही कारण है कि उनके द्वारा पहली बार पाश्चात्य आलोचकों व कवियों की कृतियों पर अपने मौलिक अनुचिंतन व दृष्टिकोण को सामने रखा गया। भारतीय रसवादी परम्परा व लोक-मंगल की भावना जैसे मूल्यों को स्थापित करने के उद्देश्य से उन्होंने अपनी काव्य मान्यताएं प्रस्तुत करके नये प्रतिमान स्थिर किये। रचनाकार की भाव-भूमि पर उनका आलोचक स्थित हुआ।

मैं यह मानता हूं कि आचार्य शुक्ल पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन थे और इसलिए तथाकथित द्विवेदी-युग के पश्चात् उन्हें स्थान देने व मानने वाले आलोचकों की 'शुक्लयुग' की मान्यता से मैं सहमत नहीं हूं। द्विवेदी जी व उनके समकालीन अनेक लोग (पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, मिश्रबन्धु) एक ओर आलोचना के लिए सतही भूमिका निर्माण कर रहे थे और दूसरी ओर उसी समय व युग में आचार्य शुक्ल के अनेक समान-धर्मी लोग अपना नवीनमार्ग प्रशस्त कर रहे थे। उनमें श्यामसुन्दरदास, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिवाधार पाण्डेय आदि प्रमुख हैं। उक्त आलोचकों में, कुछ ने शुक्ल-पद्धति को स्वीकार किया और कुछ ने स्वच्छन्दतावादी आलोचना की पृष्ठभूमि बनाई। यह अलग बात है कि स्वच्छन्दतावादी आलोचना की दिशा शुक्ल जी व शुक्ल पद्धति से भिन्न थी। यद्यपि स्थापना व प्रतिस्थापना के द्वारा भारतीय व पश्चिमीय आलोचना के विकास की संभावनाएं बढ़ गयीं। आचार्य शुक्ल द्वारा समालोचना-तथ्य का व्यावहारिक विकास निबंधों में, भूमिकाओं में, इतिहास के संदर्भ में, यत्र-तत्र एवं इसी प्रकार यथोचित स्थानों में हुआ। आचार्य शुक्ल हिन्दी के प्रथम समालोचक हैं जिन्होंने काव्यगत मान स्थिर करने के निमित्त अपने युग-प्रवृत्तिमूलक आदर्शवाद के सन्दर्भ में सामाजिक अभिव्यक्तिमूलक

लोक संग्रह-भावना की प्रतिष्ठा समालोचना में की। इस 'मान' की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने सैद्धान्तिक निबंध लिखे (कतिपय—चिन्तामणि एवं रस मीमांसा में संकलित हैं), में एवं 'भूमिकाओं' (तुलसी ग्रंथावली) जायसी ग्रंथावली, भ्रमरगीत-सार की) में उन्होंने उन्हें व्यावहारिक रूप भी दिया। ये भूमिकाएं समालोचना की स्फुट-मुक्तक शैली कही जायेंगी। इनमें उनके प्रतिपादित सिद्धान्तों के संदर्भ में हुए व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, ऐतिहासिक विवेचन द्वारा समीक्षा का व्यावहारिक दृष्टान्तमूलक आदर्श प्रस्तुत हुआ। यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य शुक्ल में सैद्धान्तिकता है, आलोच्य-वस्तु-रूप को उपस्थित करने के लिए व्याख्यात्मकता है, और चूंकि काव्यगत दार्शनिक चिन्तन की सैद्धान्तिक गरिमा है इसलिए उनके व्यवहार में सजगता का प्रतिफल है—निर्णयात्मकता है। मैं समझता हूं कि समालोचना को आचार्य शुक्ल ने जितना पारिभाषिक विस्तार एवं अर्थ-बोध अपनी स्थापनाओं के संदर्भ में दिया है, शायद उनके पूर्व के किसी समालोचक ने नहीं दिया। सैद्धांतिक, व्याख्यात्मक एवं निर्णयात्मक समालोचना के ये प्रकार-विशेष आचार्य शुक्ल में एकाकार एवं केन्द्रीभूत होकर प्रस्तुत हुए हैं। उनमें तीनों गुण एक दूसरे के अनुरूप हैं। निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि उनके द्वारा गुण व्यापक हुआ लेकिन वस्तु निबंधों में, भूमिकाओं में, या इतिहास के वृत्त-संकलन-संदर्भ में एक सुनिश्चित प्रारूप नहीं पा सका। उनमें समालोचना है, लेकिन वस्तु-शिल्प नहीं। उनका इतिहास समालोचना का प्रबंध नहीं है। उनके इतिहास में समालोचना न हो तो भी इतिहास वस्तु को, जो भी है, उतने को, क्षति न पहुंचेगी। इस प्रकार आचार्य शुक्ल गुण एवं धर्म में शुद्धतः समालोचक हैं।

आचार्य शुक्ल ने इतिहास में 'समालोचना के विकास' के अन्तर्गत लिखा है कि 'साधनाओं एवं कलाओं का तांता' लग गया है—बस यहीं से प्रसार-काल का पूर्वार्द्ध बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक से शुरू हो जाता है। आचार्य शुक्ल ने मान्यताएं स्थिर कीं, समालोचना की, लेकिन समालोचना की कसौटी के लिए क्या किया? उन्होंने आदर्शवादी काव्य-सिद्धांत तो प्रतिपादित किये लेकिन समालोचना को शास्त्रीय रूप से वस्तून्मुखी बनाने की दृष्टि से क्या किया? डा० श्यामसुन्दरदास ने विधाओं के शास्त्रीय रूप दिये, लेकिन उनमें निहित आत्मागत गुण-विवेचन की दार्शनिकता नहीं है। आचार्य शुक्ल से अध्येता पाता है कि काव्य ऐसा होना चाहिए या ऐसा ही काव्य आदर्शवादी हो सकता है जो साधारणीकरण प्रधान हो, जिसमें रागात्मिकता वृत्ति हो, प्रकृति-चित्रण हो, जीवन का दार्शनिक-विवेचन हो और सर्वप्रधान गुण—लोक संग्रहमूलक भावना की प्रधानता हो। उक्त काव्यमूलक तत्व वैचारिक रूप से उन्हें द्विवेदी-युग की प्रवृत्ति से ही मिले। समालोचना में समालोचक का क्या स्वरूप हो और समालोचनादर्श कैसा हो, यह उनमें नहीं है। उनका समालोचनादर्श मात्र काव्य सम्बन्धी अपनी रुचियों में केन्द्रित हैं। इसका कारण भी था वह यह कि उन्होंने समालोचना-प्रबंध नहीं लिखा। यदि वे समालोचना-प्रबंध लिखते तो समालोचनाओं से सम्बन्धित विभिन्न मान्यताओं के संदर्भ में अपने समालोचक की स्थिति भी बताते। उनकी टकराहट दार्शनिकों, चिन्तकों एवं विचारकों से है, क्योंकि वे विचारक थे; और

अपनी विचारधारणा की प्रतिकूलता ही में कृति-रचनाकार के सर्वथा विपरीत होते तथा अनुकूलता में समर्थन देते हुए दिखते हैं। उनकी समालोचना में उनकी अपनी काव्यगत मान्यताओं की कसौटी के अनुरूप कृति या कृती के गुण-दोष का विवेचन है। उनका समालोचक दार्शनिक या चिन्तक है।

उपर्युक्त कथन का आशय यही है कि आचार्य शुक्ल एवं उनके पूर्व के समालोचक वस्तु-विकास के अभाववश केवल स्वयं की उद्भूत मान्यताओं में, पाश्चात्य या परम्परागत भारतीय काव्य-शास्त्र या नाट्य-शास्त्र की स्फुट व्याख्या में, प्राचीन कवियों पर (केवल निराधार) श्रेष्ठता या लघुता के सिद्ध करने में, निबंध की सीमाओं में ही निबद्ध रह आये। सम्बद्ध विचार तथा विषयावली व्यापक रचना को हम प्रबन्ध कहेंगे। आचार्य शुक्ल काव्य में प्रबंध के आग्रही हुए, जीवन के सांगोपांग अध्ययन के लिये काव्य में प्रबंध-संदर्भ में लोक-संग्रह-मूलकता की आवश्यकता को अनिवार्य कहा, लेकिन समालोचना को प्रबन्ध-सन्दर्भ में रखकर सांगोपांग अध्ययन की प्रवृत्ति की आवश्यकता को अनिवार्य क्यों नहीं माना? काव्य में वे प्रबंध का जब आग्रह रखते हैं तो आज का अध्येता, उनकी इस मान्यता के संदर्भ में, आश्चर्य करता है कि उनके समीक्षादर्श में प्रबन्ध-स्वरूप क्यों नहीं आया? समालोचना को आचार्य शुक्ल ने दार्शनिकता दी, मनोवैज्ञानिक संदर्भ दिया, लेकिन वस्तु-शिल्प में (काव्य के लिये प्रबन्ध का आग्रह करते हुए भी) सांगोपांग अध्ययन की दृष्टि नहीं दी। बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में सम्बद्ध विचार तथा विषयावली व्यापक समालोचना का उद्घाटन हुआ। यहीं से प्रसार-काल का आरम्भ होता है।

आचार्य शुक्ल की काव्य-मान्यताएँ एवं स्थापनाएँ

आचार्य शुक्ल काव्य में आलम्बत्व के साधारणीकरण का आग्रह करते हैं। 'जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए।' भाव-सम्पन्न मनुष्य के जीवन को काव्य से सम्बद्ध करने के कारण ही आचार्य शुक्ल को मनोविकारों के सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता हुई। मैं पूर्व ही लिख चुका हूँ कि आचार्य शुक्ल ने आलोचना को सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक आधार दिया। आचार्य शुक्ल कविता के पवित्र धर्म-निर्वाह का लक्ष्य मानते हैं—'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहां जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।—वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है।' इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी काव्य के लिए चाहते हैं कि मनुष्य अपने 'अहम्' की चेतना को आत्म विसर्जित करके लोकोन्मुखी हो, तभी कविता की सार्थकता है। यहीं यह कहना अधिक उचित होगा कि आचार्य शुक्ल व्यक्तिवादी काव्य-मूल्यों के विरोधी हैं तथा वे इसी कारण छायावादी काव्य के समर्थक नहीं हो सके। भाव अथवा मनोविकारों को काव्य के विषय बनाये जाने के सम्बन्ध में शुक्ल जी स्थापना करते हैं कि 'इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष और गूढ़-से-गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय

या आलम्बन के लिए इन्हीं मूल रूप और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाए जाते तब तक उन पर काव्य दृष्टि नहीं पड़ती। भाव एवं रूप के पारस्परिक सम्बन्ध सूत्रों में ही काव्य में बिम्ब-ग्रहण सम्बन्धी स्थापना करते हैं कि भाव-तत्व (कण्टेण्ट) 'गोचर और मूर्त होंगे' तभी उसे 'फार्म' की स्थिति प्राप्त होगी।

आचार्य शुक्ल ने उपर्युक्त संदर्भ में सर्वप्रथम काव्य को मनुष्य के स्व-परिमार्जन का माध्यम मानते हुए कला जीवन के लिए है, इसी प्रकार कविता भी जीवन के लिए है, माना है। किन्तु भाव जीने वाला मनुष्य भावों की सीमाओं व संकीर्णताओं के घेरे से युक्त हो, यह अभीष्ट पूर्ति वे कविता द्वारा ही करते हैं। आचार्य शुक्ल की स्थापना है--'हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों से भावना को सामने लाकर कविता बाह्य-प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रवृत्ति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपने भावों को समेटकर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि के किनारे कर ले या स्वार्थ की पशु-वृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी।' इन पंक्तियों में आचार्य शुक्ल मनुष्य को शेष सृष्टि से सम्बद्ध करते हैं। मनुष्य में आत्मपरक गुण (सब्जेक्टिव्ह एलीमेण्ट्स) व भाव की सत्ता की प्रधानता तो है किन्तु काव्य-धर्म द्वारा वह समष्टि की चेतना की ओर भी उन्मुख हो सकता है। इसी मनुष्य की भाव-सत्ता-धारी स्थिति को लेकर काव्य-पुरुष अपने भीतर के उत्पन्न भावों के प्रकट करने में अपने अनुभावों द्वारा या उद्दीपन के मूर्त व गोचर रूपों की सहायता से ही दूसरे भावक (आश्रय) मन में भाव-संप्रेषित करता हुआ—बिम्ब-ग्रहण व अर्थ-ग्रहण कराता है। शेष जगत् से तादात्म्य की स्थिति मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के गुण के परिणामस्वरूप हुआ करता है। इसी वृत्ति का गुण है, जिसकी शुक्ल जी ने व्याख्या की है कि मनुष्य जड़ व चेतन, दोनों के बीच जिया करता है। इसी संदर्भ में मनुष्य व प्रकृति-प्रेम के सम्बन्ध में वे कहते हैं--ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी सभ्यता की झोंक में इन प्राचीन सहचरों से दूर हटता हुआ अपने क्रियाकलाप को कृत्रिम आवरणों से आच्छन्न करता जा रहा है, त्यों-त्यों उसका असली रूप छिपता जा रहा है। इस असली रूप का उद्घाटन तभी हुआ करेगा जब अपने बुने हुए घने जाल के घेरे से निकलकर कभी-कभी प्रकृति के अपार क्षेत्र की ओर दृष्टि फैलाएगा और अपने इन पुराने सहचरों के संबंध का अनुभव करेगा। अपने घेरे से बाहर की क्रूरता और निष्ठुरता के अभ्यास का परिणाम अपने घेरे के भीतर प्रकट होता है।

आचार्य शुक्ल ने श्रेष्ठ काव्य को 'नर-क्षेत्र' के अन्तर्गत स्वीकार किया है। यही नर-क्षेत्र उनकी मान्यता के अनुसार काव्य में आलम्बन रूपों द्वारा अपनी भाव-सत्ता को प्रकट करने में सक्षम होता हुआ भावक के सम्मुख उन्हीं मूल्यों को स्वरूप देता है जो मानव-मन की सम्पत्ति हैं। यही नर-क्षेत्र काव्य में चरित्र होता है, नायक व प्रतिनायक होता है, इसी नायक के जीवन-दर्शन की व्याख्या प्रबंध में सम्भव है, यही नायक प्रबन्ध-काव्य के शास्त्रीय मतानुसार पुराण-सम्मत होता है और प्रतिनायक के दानत्व का निषेध करके वह उदात्त बनता है। जीवन के श्रेष्ठ परिकल्पनात्मक मूल्यों में ऐसे नर-क्षेत्र के नायक केवल एक देश या

प्रदेश का, किसी एक भाषा का मात्र मनुष्य नहीं होता बल्कि अपनी रागात्मिका वृत्ति की गुण-सम्पन्नता के कारण सम्पूर्ण सृष्टि का हो जाता है और इसी प्रकार सम्पूर्ण मानव-जगत् का प्रेरक बन जाता है।

'काव्य-दृष्टि' के लिए शुक्ल जी की मान्यता है कि वह (१) नर-क्षेत्र (२) मनुष्येतर बाह्य दृष्टि, (३) कहीं समस्त चराचर, में परिलक्षित होती है। 'नर-क्षेत्र' मनुष्येतर वाह्य-सृष्टि के संदर्भ की आचार्य शुक्ल व्याख्या करते हैं कि 'साहित्य-शास्त्र' की रस-निरूपण-पद्धति में आलम्बनों के बीच बाह्य-प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। वह उद्दीपन मात्र मानी गयी है। श्रृंगार के उद्दीपन रूप में जो प्राकृतिक दृश्य लाये जाते हैं, उनके प्रति ऐसा भाव नहीं होता, नायक या नायिका के प्रति होता है। वे दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रीति को उद्दीप्त करने वाले होते हैं, स्वयं प्रीति के पात्र या आलम्बन नहीं होते।'[१] आचार्य शुक्ल प्रकृति को मात्र उद्दीपन मानते हैं और वह भी आलम्बन (नर-क्षेत्र) के लिए क्योंकि आलम्बन के भीतर मन है, भाव है, अनुमिति की स्थिति है। इस स्थिति में प्रकृति काव्य के लिए वस्तुपरक (आब्जेक्टिव्ह) मात्र है। वस्तुपरक प्रकृति-सत्ता में आत्मपरकता का दर्शन करना, मात्र आरोपण होगा, फलस्वरूप निष्पत्ति नहीं होगी। शुक्ल जी इसी संदर्भ में कहते हैं कि 'सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।'[२] इसी स्थापना के आधार पर आचार्य शुक्ल ने मनुष्य के लिए प्रकृति को दृश्य-चित्रण माना है। प्रकृति मात्र बिम्ब-ग्रहण करने के लिए पूरक तत्व है।[३]—विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कवियों का काम उच्च काव्य का लक्षण होगा।[४]

शुक्ल जी का लोक-धर्म

जैसी विवेचना की जा चुकी है कि आचार्य शुक्ल काव्य को नर-क्षेत्र के भीतर रखकर देखते हैं, यही कारण है कि वे काव्य में मूर्त-विधान व दृश्य-विधान, बिम्ब-ग्रहण व अर्थ-ग्रहण के लिए आग्रह करते हुए स्थापना करते हैं कि काव्य में पीड़ित, अत्याचारी का दमन व नाश, असत् पर सत् की विजय को मूर्त व गोचर रूप में जब तक चित्रित व वर्णित

---

१. चिन्तामणि, पृ० सं० १४१-४२।

२. वही—पृ० १४३।

३. बिम्ब-ग्रहण वहीं होता है जहां कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति का संश्लिष्ट विवरण देता है। वही—पृ० १४२।

४. वही—पृ० १५०।

न किया जाय तब तक लोक-रंजक तत्व की स्थापना आश्रय को, अपने भाव के रूप में नहीं होगी।

आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य का लोक-धर्म सामाजिक माने के प्रगटन में है। यदि काव्य व्यष्टि सीमा में सीमित हो और दूसरे किसी की भाव-सम्पदा न बन सके तो वह श्रेष्ठ काव्य नहीं होगा। सामाजिक स्तर के लोक-धर्म में स्वतः रस-निष्पत्ति की सम्भावना आचार्य शुक्ल करते हैं। इस मान्यता के प्रतिपादन में उन्होंने 'राम-चरित मानस' को ही आदर्श काव्य माना है। शक्ति, शील और सौन्दर्य से सम्पन्न राम रावण का वध करके उसके दानवत्व को समाप्त करते हैं, यह आश्रय के भीतर लोक-मंगल का भाव उत्पन्न करता है। शक्ति के प्रस्तुतीकरण में राम रावण व अन्य राक्षसों का वध करते हैं। शील के प्रस्तुतीकरण में राम पारिवारिक व सामान्य-से-सामान्य सामाजिक प्राणियों में ही नहीं, पशु-पक्षियों में भी अपने औदार्य द्वारा सम्बन्ध-भाव की स्थापना करते हैं। इसी प्रकार राम अपने व्यक्तित्व के सौन्दर्य द्वारा सभी के लिए आकर्षण के केन्द्र बन जाते हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार—"गोस्वामी जी ने अनन्त सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसके भीतर ही अनन्त शक्ति और अनन्त शील की वह झलक दिखा दी है जिसके प्रकाश में लोक का मोद-पूर्ण परिचालन हो सकता है। सौन्दर्य, शक्ति और शील तीनों में मनुष्य मात्र के लिए आकर्षण विद्यमान है। रूप-लावण्य के बीच प्रतिष्ठित होने से शक्ति और शील को और भी अधिक सौन्दर्य प्राप्त हो जाता है। उनमें एक अपूर्व मनोहरता दिखती है। जिसे शक्ति, सौन्दर्य की झलक मिल गयी उसके हृदय में सच्चे वीर होने की अभिलाषा जीवन भर के लिए जग गयी। जिसने शील सौन्दर्य की यह झांकी पायी, उसके आचरण पर इसके मधुर प्रतिबिम्ब की छाप बैठी। प्राचीन शक्ति के इस तत्व की ओर ध्यान न देकर जो लोग भगवान् की लोक-मंगल की विभूति के द्रष्टा तुलसी को कबीर, दादू आदि की श्रेणी में रखकर देखते हैं, वे भारी भूल करते हैं।" आचार्य शुक्ल की 'लोक-मंगल-भावना' सम्बन्धी स्थापना को ही अनेक लोग मानते हैं कि उनका यह आदर्शमूलक प्रतिमान हिन्दू वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार है। मुझे आश्चर्य होता है कि यह आरोप तुलसीदास पर क्यों नहीं लगाया जाता? शक्ति, शील एवं सौन्दर्य किसी भी भाषा के साहित्य में प्रतिमान रूप में स्वीकृत हो सकता है। यह पक्ष इस दृष्टि से भी देखा जा सकता है कि राम को सामान्य उदात्त पुरुष के रूप में प्रस्तुत करके उन्हें सामान्य व साधारण मनुष्य की परिस्थितियों में रखकर ही उनके व्यक्तित्व का विकास कराया गया। ऐसा उदात्त पुरुष यदि पुराण से प्राप्त अवतारी भी हो तो भी साम्प्रदायिकता का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। शुक्ल जी का लोक-धर्म या लोक-मंगल 'स्थूल' नहीं है बल्कि व्यक्तित्व का सांगोपांग विकास है जो आश्रय की उपलब्धि बनता है।

सिद्धावस्था व साधनावस्था

आचार्य शुक्ल के अनुसार 'सत्, चित्, आनन्द'— ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्ति-मार्ग आनन्द स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की

अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पाई जायेंगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। आचार्य शुक्ल के अनुसार कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौन्दर्यमय, माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं, उसी प्रकार "साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी पूरी स्मरणीयता देखते हैं।" यहाँ भी आचार्य शुक्ल अपनी पूर्व-स्थापना की पृष्ठभूमि में आलम्बन व उद्दीपन के पक्ष में ही अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हैं कि उद्दीपन रूपों का मात्र भोक्ता बनकर कवि भावक को वस्तुपरक सौन्दर्य का दर्शन मात्र करा सकता है किन्तु उसका उद्देश्य व लक्ष्य लोक-मंगल के भाव के प्रस्तुत विधान में होना चाहिए। लोक-पीड़ा की अभिव्यक्ति में भावोन्मेष कराना कवि का उद्देश्य होना चाहिए। यहाँ आचार्य शुक्ल ने उन प्रकृतिवादी कवियों को दृष्टि में रखा है जो प्रकृति-चित्रण मात्र मनोहर छटा के दिग्दर्शन के लिए करते हैं। साधनावस्था की पुष्टि के लिए डंटन (Theodore Watts Dunton) की मान्यता का समर्थन शुक्ल जी ने किया है कि वह ही श्रेष्ठ काव्य हो सकता है जो "शक्ति-काव्य" (Poetry as energy) प्रधान है और जिसमें "लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करने वाला प्रभाव है।" काव्य मात्र स्वान्तः सुखाय नहीं है जो केवल मनोरंजन का साधन हो अथवा कवि-मात्र की आत्म-तृप्ति का माध्यम हो। आचार्य शुक्ल ने 'आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष' की श्रेणी के काव्यों के उदाहरण भी दिये हैं—रामायण, महाभारत, शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय। हिन्दी में रामचरित मानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हमीर रासो, पृथ्वीराज रासो, छत्र-प्रकाश इत्यादि प्रबन्ध काव्य, भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीर गाथात्मक गीत, उर्दू के वीररसात्मक मरसिये। यूरोपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज़ लास्ट, रिवोल्ट आफ इस्लाम इत्यादि प्रबन्ध-काव्य तथा पुराने बैलड। आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं—आर्य्या सप्तशती, गाथा-सप्तशती, अमरु शतक, गीत गोविन्द तथा श्रृंगार-रस के फुटकल पद्य। हिन्दी में सूरसागर, कृष्ण-भक्त कवियों की पदावली, बिहारी सतसई, रीतिकाल के कवियों के फुटकल श्रृंगारी पद्य, रास पंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश छायावादी कविताएं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने अपनी मान्यताओं में काव्य को समाज, चरित्र-सम्पन्नता, उदात्तता से सम्बद्ध करते हुए उसके लोक-मंगल-स्वरूप के विविध रूपों का उद्घाटन किया है।

शुक्ल जी ने मंगल-भावों के दो पक्ष बताए हैं—"करुणा, और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है—और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। अतः साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीज भाव करुणा ही ठहरता है।"

सिद्धावस्था में मुख्य भाव केवल प्रेम की ही सीमा है। लोक-मंगल को व्याख्यायित

करने के उद्देश्य से 'करुणा' पक्ष को शुक्ल जी ने आधार माना है। जो भी करुणा का आलम्बन होगा, वह सहृदय को संवेदित कर सकने में सक्षम होगा। इस दृष्टि से करुणा से अनुप्रेरित प्रेम निस्सन्देह मानवता के धरातल पर स्थित होता है। आनन्द की साधनावस्था आचार्य शुक्ल के लोक-धर्म से ही सम्बद्ध रूप का विवेचन है।

रसात्मक-बोध के विविध रूप

आचार्य शुक्ल के अनुसार रूप-विधान के निम्नलिखित तीन प्रकार हैं—

१. प्रत्यक्ष रूप-विधान

२. स्मृति रूप-विधान

३. कल्पित रूप-विधान

आचार्य शुक्ल ने माना है कि "प्रत्यक्ष रूपों की मार्मिक अनुभूति जिनमें जितनी अधिक होती है, वे उतने ही रसानुभूति के उपयुक्त होते हैं।...काव्य शब्द-व्यापार है। वह शब्द-संकेतों के द्वारा ही अन्तस् में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्त-विधान करने का प्रयत्न करता है। अतः जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है, वे उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं। पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस साक्षात्कार करके उनके आलम्बन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है।" आचार्य शुक्ल ने इसी सन्दर्भ में साधारणीकरण के अभिप्राय को भी स्पष्ट किया है कि "किसी काव्य में वर्णित आलम्बन केवल भाव की व्यंजना करने वाले पात्र (आश्रय) का ही आलम्बन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी आलम्बन हो जाता है। अतः उस आलम्बन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का ही हृदय योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं, इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहम् का विसर्जन और निस्संगता (Impersonality and detatchment) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरर्च्य या ब्रह्मानंद सहोदरत्व कहेंगे, चाहे विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व।"

आचार्य शुक्ल ने माना है कि "वर्णित आलम्बनों की कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के संबंध में लोक के साथ या कम-से-कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है।" आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि से स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्यक्ष अनुमूति के संदर्भ में भावों के सामान्य आलम्बनों के साथ तादात्म्य की स्थिति होगी। आँखों के सामने मूर्त विषयों के होने से तादात्म्य होगा और रसात्मक-बोध की स्थिति

में आश्रय होगा। शुक्ल जी ने रसात्मक बोध के दो प्रकार बताये हैं—(१) "अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार (२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।" इसी मान्यता के समर्थन में आचार्य शुक्ल को आई० ए० रिचर्ड्स में 'वास्तविक अनुभूति के रसात्मक होने का आभास' होता है। प्रत्यक्ष रूप-विधान में क्रोधी, अत्याचारी, शोक-ग्रस्त मनुष्य की वेदना तथा प्रवृत्ति के विभिन्न प्रत्यक्ष रूपों के अनेक उदाहरण शुक्ल जी ने दिये हैं।

शुक्ल जी ने स्मृति रूप-विधान को दो भागों में विभाजित किया है—१. विशुद्ध स्मृति, २. प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान। स्मृति संचारी भाव है। स्मृति 'प्रिय का स्मरण, बाल्यकाल या यौवनकाल के अतीत जीवन का स्मरण, प्रवास में स्वदेश के स्थलों का स्मरण' है। प्रत्यभिज्ञान में स्मृति की स्थिति में प्रत्यक्ष का अंश होता है। उदाहरणार्थ—'किसी व्यक्ति को हमने कहीं देखा और देखने के साथ स्मरण किया कि यह वही है जो अमुक स्थान पर उस दिन बहुतों से झगड़ा कर रहा था।' प्रत्यभिज्ञान में 'रसात्मक-संचरण' की बड़ी गहरी शक्ति होती है।

स्मृत्याभास कल्पना की पृष्ठभूमि इतिहास को आधार मानकर शुक्ल जी ने स्पष्ट किया है कि अपने स्वयं के प्राचीन स्थलों को पुनः देखने पर स्मृति रूप उभर आते हैं जो पुरानी अतीत की अपनी स्वयं की घटित घटना को तरोताजा बना देता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक स्थलों को देखकर इतिहास की प्राचीन घटनाओं के बिम्ब प्रत्यक्ष हो उठते हैं।

आचार्य शुक्ल काव्य में भाव के आलम्बन से आश्रय के तादात्म्य हेतु ही रसात्मक-बोध के विविध रूपों की व्याख्या करते हुए स्थापना करते हैं तथा उनके अनुसार रूप-विधान के तीनों पक्षों में तीसरे प्रकार का रूप-विधान ही श्रेष्ठ है।

आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का सम्बन्ध-सूत्र एक दूसरे से सम्बद्ध है, ऐसा नहीं कि कहीं परस्पर अन्तर्विरोध हो। साधारणीकरण की चर्चा पूर्व भी हो चुकी है। आचार्य शुक्ल के अनुसार 'जब तक किसी भी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं होती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। साधारणीकरण की अवस्था ही आचार्य शुक्ल के अनुसार कवि में 'लोक-हृदय की पहिचान' है। भाव के आलम्बन की स्थिति दर्शन व बोध को शुक्ल जी ने 'विशेष' माना है क्योंकि आश्रय के सम्मुख 'व्यक्ति' का प्रत्यक्षीकरण होना चाहिये। यह 'जाति' के रूप में सामान्य होने के कारण काव्य में सम्भव नहीं कि कवि अनेक लोगों के 'रूप-गुण' का प्रत्यक्षीकरण व मूर्तमान कर सके। रस-निष्पत्ति के लिए आचार्य शुक्ल ने माना है कि 'काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब या मूर्त-भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।' इस प्रकार आचार्य शुक्ल पुनः प्रबन्ध-काव्य में प्रस्तुत चरित्र-विधानों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं।

आचार्य शुक्ल ने काव्य-प्रतिमानों को भाव के आलम्बन के संदर्भ में जिस मनोवैज्ञानिक सत्य को आत्मसात् करने का आग्रह किया है, उसमें 'अनुभूति' की प्रधानता होगी ही। शुक्ल जी का स्पष्ट कथन है कि "किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य, गाम्भीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखने वाले नहीं होते, मनुष्य-मात्र की भावनात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं।" उक्त संदर्भ में ही आचार्य शुक्ल ने 'साधारणीकरण' सम्बन्धी मान्यता को स्पष्ट किया है कि "बिम्ब 'व्यक्ति' का होगा, तब अर्थ-ग्रहण की अवस्था आयेगी। 'जाति' का मूर्त-विधान सम्भव नहीं है।" साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है।

आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद सम्बन्धी मत की भी आलोचना की है। क्रोचे अन्तः ज्ञान (Intuition) से उद्भूत रूप (Form) को ही कला का आधार मानता है क्योंकि अभिव्यक्ति द्वारा ही मनुष्य के अंतस् में स्थित भावों का उद्घाटन होता है। यही कारण है कि क्रोचे के अनुसार (All art is expression therefore all expression is art) आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के मत को 'पुराना अलंकारवाद' कहा और शुक्ल जी ने अपने विचार को इन शब्दों में पुष्ट किया—'अप्रस्तुतों (उपमानों) के प्रयोग में केवल सादृश्य-साधर्म्म पर दृष्टि न रहकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर भी ध्यान रहे।' आचार्य शुक्ल ने इसे विलायती वक्रोक्तिवाद कहा है।

'उक्ति ही कविता है' के सन्दर्भ में क्रोचे की मान्यता स्पष्ट है कि शब्दार्थ में स्थित मनुष्य की भाव-सत्ता की उपेक्षा हो जाती है। अभिव्यंजनावाद के प्रमुख चारों पक्ष आचार्य शुक्ल ने बताये हैं—

१. अन्तः संस्कार (Impressions)
२. अभिव्यंजना अर्थात् कलापरक आध्यात्मिक योजना या कल्पना (Expressions or spiritual aesthetic synthesis)
३. सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनन्द (Hedonistic accompaniment or pleasure of the beautiful)
४. कलापरक आध्यात्मिक वस्तु (कल्पना का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण (शब्द, स्वर, चेष्टा, रंग, रेखा आदि)।

बाह्य-जगत् की विभिन्न वस्तुओं व प्रत्यक्ष जगत् के व्यापारों की अभिव्यंजना का आधार अंतः ज्ञान (Intuition) है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अधिकांश आलोचनाएँ उस काल में प्रस्तुत हुई जब छायावाद प्रतिष्ठित हो चुका था। हमारा यह कथन अधिक समीचीन होगा कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् रूसी-क्रांति के प्रभाव को भारतीय मूल्यों की पृष्ठभूमि में ही आचार्य शुक्ल 'लोक मंगल' के रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे। उन्होंने देखा कि छायावादी काव्य में ऐकान्तिकता,

अन्तर्मुखीनता के प्रभाव के कारण कवि पलायनवादी होता जा रहा है। प्रकृति के प्रति साहचर्य-भाव का पूरक तत्व रूप में न होना ही छायावाद के मूल्यों को सामाजिक दृष्टि से विघटित करता है।

आचार्य शुक्ल को विद्वानों ने 'सगुणवादी', 'साम्प्रदायिक', 'हिन्दूवादी' आलोचक कहकर केवल खीझ मिटाने की अधिक कोशिश की है, किन्तु उनकी सार्थक कोशिश उस समय निरर्थक सिद्ध हो जाती है जब शुक्ल जी अपनी 'प्रबंध-प्रियता' वश सूफियों के प्रशंसक सिद्ध होते हैं—तभी प्रश्न उठता है कि वे साम्प्रदायिक व हिन्दूवादी कैसे ? इसी प्रकार बिम्ब-ग्रहण व अर्थ-ग्रहण के संदर्भ में गोचर व मूर्त-विधान की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए आचार्य शुक्ल यदि स्वाभाविक रूप से सगुणवाद के समर्थक हो जाते हैं तो उन्हें सूरदास के सगुणवादी कवि के रूप में आलोचना करने की आवश्यकता क्यों हुई ? वे एक ओर सगुणवादी कवि सूरदास के प्रशंसक नहीं हैं और दूसरी ओर अपनी मान्यताओं के कारण कबीरदास के भी समर्थक नहीं हैं। हमें चाहिए कि आचार्य शुक्ल के मूल्यों की आलोचना सम्यक् दृष्टि रखकर करें किन्तु केवल अपने मार्ग प्रशस्त करने के लिए नहीं।

आचार्य शुक्ल राष्ट्रीयतावादी प्रगतिशील समीक्षक थे। उन्होंने कबीरदास की आलोचना करके काव्य रसिकता के साथ अपनी स्थापित मान्यताओं को ही पुष्ट किया। कबीरदास की धर्म-निरपेक्षता उन्हें इसलिए नहीं प्रभावित कर सकी कि उनके अनुसार धार्मिक रूढ़ियों की, की गयी आलोचना उपदेशात्मक कथन मात्र है क्योंकि उसे काव्य के माध्यम से आत्मसात् नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार वीरगाथात्मक काव्य उन्हें सिद्धों व नाथों के तथा-कथित काव्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ लगा। आचार्य शुक्ल स्वयं द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रतिमानों के प्रति अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में प्रतिबद्ध रहे।

आचार्य शुक्ल ने योरप के कलावादी मान्यताओं के विरोध में काव्य को 'प्रत्यक्ष की अनुभूति' के स्थान पर जीवनानुभूति के मूल्यों को स्वीकार किया और कल्पना को मनुष्य की अपनी मौलिक चेतना माना। शुक्लजी ने रिचर्ड्स की मान्यताओं को इसलिए भी स्वीकार किया था कि काव्य का जीवन से अधिक निकट का सम्बन्ध है।

राजा गोकुलदास महल
जबलपुर

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के एकांकियों में अभिव्यक्त पारिवारिक जीवन

डॉ० म० के० गाडगीळ

⊙

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन गण्य-मान्य एकांकीकारों में से एक हैं जिन्होंने सामाजिक जीवन को एक बड़े व्यापक दृष्टिकोण से देखा और परखा है। 'अश्क' जी ने पारिवारिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को बड़ी सफलता के साथ अपने एकांकियों में अभिव्यक्त किया है। सामाजिक जीवन के अंतर्गत पारिवारिक जीवन की जैसी व्याख्या उनके एकांकियों में की गयी है, वैसी अन्य एकांकीकारों में दुर्लभ हैं।

'अश्क' जी के संपूर्ण एकांकी-साहित्य में पारिवारिक जीवन की विभिन्न समस्याओं का विचार करने वाले एकांकियों की संख्या सर्वाधिक है। पारिवारिक जीवन का व्यापक परिदृश्य उनमें अंकित है।

प्रेम और विवाह पारिवारिक जीवन के मूल आधार हैं। प्रेम, विवाह का आधार है और विवाह, परिवार का। 'अश्क' जी ने अपने एकांकियों में उन दोनों मूलाधारों के बारे में बड़ी बारीकी से विचार किया है।

दो व्यक्तियों के परस्पर गहरे संपर्क से प्रेम का निर्माण होता है; परन्तु दुनिया में ऐसे प्रेमी भी मिलते हैं जो बिना एक-दूसरे के परिचय के परस्पर प्रेम ही नहीं करते, दूसरे के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए भी तैयार होते हैं। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में मीराँ का गिरिधर गोपाल से तथा राजा रतनसेन का पद्मावती से प्रेम अपने आध्यात्मिक संस्पर्श के बावजूद इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

'अश्क' जी के 'चुम्वक' एकांकी में प्रेम के इसी पहलू को उजागर करने का प्रयत्न किया गया है। लेखक के ही शब्दों में—"यों तो पुरुष अथवा नारी के आकर्षण के अनेक कोण हैं।. . .शारीरिक स्वास्थ्य, सौन्दर्य, यश अथवा ख्याति के अतिरिक्त पुरुषों की लच्छेदार रोमानी प्यार-भरी बातें अथवा करुणा उपजाने वाले पत्र हमेशा भावुक तरुणियों को आकर्षित करते आये हैं।"

'चुम्बक' एकांकी की कथावस्तु का मूल आधार यही है। गौतम एक कवि है। सरिता उसकी कविता पर आसक्त है। वह उसे पत्र लिखती है। गौतम अविवाहित है। उत्तर के रूप में गौतम अपने जीवन के अकेलेपन के बारे में करुणा भरे पत्र लिखता है। गौतम और सरिता का परिचय तो पत्रात्मक ही है, फिर भी गौतम के पत्रों से प्रभावित होकर, उसके

अकेलेपन के बोझ को हल्का करने के लिए, उसके दुख को बाँट लेने के लिए, सरिता अचानक घर से अकेली निकल पड़ती है। नदी-नाले, नव-वीराने पार करती हुई आँधी-पानी में दस मील का लम्बा ऊबड़-खाबड़ मार्ग केवल एक टूटे-से इक्के पर पार कर जाती है। बीच में भारी वर्षा के कारण सरिता थोड़ी देर के लिए गोपा के यहाँ ठहरती है। उस समय उसे पता चलता है कि गौतम कवि हैं और शिकारी भी। गोपा भी गौतम का शिकार हो चुकी है। गोपा का गौतम के प्रति प्रेम ज्ञात होने पर भी सरिता के लिए चुम्बक का जादू बना रहता है। लौह-चून की तरह वह गौतम की ओर खिंची चली ही जाती है। पागल रोमानी लड़की !

कलाकारों के प्रति इस तरह का भावुक प्रेम आजकल अनेक पढ़ी-लिखी युवतियों में देखने को मिलता है। परन्तु प्रेम करने की भावना और प्रेम में अंतर होता है। उसको न समझने के कारण अनेक बार युवतियाँ धोखा खा जाती हैं। ऐसा एकांगी प्रेम जीवन में शायद ही कभी सफल होता है, और असफलता की स्थिति में प्रेयसी को जीवन भर दुख का बोझ ढोना ही पड़ता है। 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई' कहने वाली मीराँ की स्थिति ऐसी ही थी और प्रेम-दीवानी मीराँ को कहना पड़ा था, 'प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।' मीराँ के व्यक्तिगत प्रेम की निष्पत्ति समाज के लिए उद्‌बोधक हो सकती है।

स्त्री-चरित्र का न खुलनेवाला रहस्य 'मैमूना' एकांकी में प्रस्तुत किया गया है। स्त्री कभी सौन्दर्य से प्रेम करती है तो कभी धन-दौलत से। आमना एक सुन्दर युवती है। साजिद और अरशद उसे प्यार करते हैं। अरशद देखने में सुन्दर है परन्तु साजिद अमीर है। साजिद को अपना हृदय न देनेवाली आमना उसकी दौलत से प्रेम करती है। साजिद की मृत्यु के बाद आमना साजिद को तो खो बैठती है, पर उसकी दौलत को नहीं छोड़ सकती। इतना ही नहीं, वह अरशद के बेटे फरीद से प्यार करती है और अरशद को सोसाइटी के शिष्टाचार सिखाकर पालतू कुत्ते की तरह साथ लिए घूमना चाहती है।

प्रेम के क्षेत्र में पुरुष अपनी भ्रमर-वृत्ति के कारण पहले से बदनाम है। यहाँ यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि आजकल की स्त्रियाँ इस मामले में पुरुषों से किसी स्थिति में कम नहीं हैं। इसमें एक तथ्य ज्ञात होता है कि विवाहबद्ध स्त्री-पुरुष भी एक-दूसरे से सच्चा प्यार करते ही हैं, यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता। रहना किसी एक के साथ और प्यार किसी और के साथ। ऐसे विवाहित स्त्री-पुरुष अपने पारिवारिक जीवन में कभी सुखी नहीं होते।

इसी तथ्य का जो दूसरा पहलू 'पापी' एकांकी में उभरा है वह पुरुषों की भ्रमर-वृत्ति का द्योतक है।

छाया महीनों से यक्ष्मा से पीड़ित है। शान्तिलाल उसके पति हैं। पहले पहल वे अपनी पत्नी के स्वास्थ्य की खूब चिन्ता करते, डॉक्टरों के यहाँ दौड़-धूप करते तथा दिन-रात उसके सिरहाने बैठे उसकी सेवा करते रहते हैं; परन्तु जब छाया के जीने की आशा नहीं रहती तो ऊब ही नहीं जाते बल्कि छाया की सेवा करने के लिए आयी हुई अपनी साली रेखा से

प्रेम करने तथा उसके साथ रंगरेलियाँ मनाने लगते हैं। छाया दोनों को रंगरेलियाँ मनाते देखती है तो उस पर पहाड़ टूट पड़ता है।

रेखा समय पर जागृत हो जाती है। उसके मन में विचार आता है—"मैं तो बीमार बहन को देखने आयी थी, मैं तो उसका दुःख बँटाने आयी थी। क्या मैं उसका दुख बँटा रही हूँ? वाह! क्या खूब दुख बँटा रही हूँ उसका मैं! मैं उसे मृत्यु के समीप लिये जा रही हूँ। उसके दुख की चिनगारी को ज्वाला बना रही हूँ।"[1] फिर रेखा अपने मन को संयमित कर घर से चली जाती है। उधर दुख के आघात से छाया भी चल बसती है। शान्तिलाल का प्रेम कहीं का नहीं रहता। उसकी स्थिति उस धोबी के कुत्ते की तरह हो जाती है जो न घर का है न घाट का।

इस एकांकी प्रेम में और कर्तव्य का बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किया गया है। बीमार पत्नी की अपेक्षाएँ रहती हैं कि उसका पति उसके सिरहाने बैठा रहे, उसकी देखभाल करे और सबसे बढ़कर उसे सान्त्वना दे कि वह उसके साथ है चाहे दुनिया उसका साथ छोड़ दे; वह उसे उतना ही प्रेम करे जितना वह पहले करता था। ये अपेक्षाएँ तो स्वाभाविक हैं। पत्नी की बीमारी में उसकी सेवा करना पति का कर्तव्य है; धर्म है; परन्तु एक प्रेयसी के कंकाल पर बैठकर जो दूसरी से प्यार करे उस पुरुष को किस कोटि में रखा जाए।

इसी तरह का विकृत प्रेम 'गुंजलक' एकांकी में दूसरी तरह से अभिव्यक्त किया गया है। श्रीमती दीनदयाल २०-२१ वर्षीया सुन्दरी युवती है। दीनदयाल का भतीजा सुरेश २२-२३ वर्ष का है। वह श्रीमती दीनदयाल को 'चाची' कहता रहता है। वह चाची की छोटी बहन नीति से प्यार करता है। नीति भी उससे प्यार करती है। परन्तु जब श्रीमती दीनदयाल को इसका पता चलता है तो वह बेचैन हो उठती है, क्योंकि उसका अंतर्मन सुरेश को प्यार करता है। श्रीमती दीनदयाल प्रेमावेश में आकर दो बार सुरेश को चूम लेती है। उसके चुंबन में ऐसी गर्मी है कि सुरेश चकित-सा देखता रह जाता है।

इधर दीनदयाल भी अपनी सुन्दरी पत्नी के रहते हुए अपनी साली नीति से प्यार करता है। वह बार-बार नीति से छेड़छाड़ करने का प्रयत्न करता है और अपने अंतर्मन को स्पष्ट करते हुए कहता है—"मैंने तुम्हारी बहन से शादी करने के पहले तुम्हें देखा होता तो चाहे जैसे होता तुम्हें अपनी बना लेता।"[2]

चाची नीति का विवाह सुरेश से नहीं होने देना चाहती है क्योंकि उसको सुरेश से प्यार है। दीनदयाल भी नहीं चाहते कि सुरेश से नीति का विवाह हो क्योंकि उसको नीति से प्यार है। श्रीयुत और श्रीमती दीनदयाल के प्रेम को क्या हम शुद्ध सात्विक प्रेम कह सकते हैं? यह तो प्रेम का विकृत रूप है—दमित वासना है जो सुखी पारिवारिक जीवन में आग-

---

१. 'पापी' एकांकी, 'पक्का गाना' संग्रह, पृ० ७२।
२. 'गुंजलक' एकांकी, '२५ श्रेष्ठ एकांकी' संग्रह, पृ० ४३५।

सी लगा देती है। इनके विकृत प्रेम के फलस्वरूप बेचारे सुरेश और नीति का परस्पर शुद्ध तथा सात्विक प्रेम खटाई में पड़ जाता है।

पारिवारिक जीवन का दूसरा प्रमुख आधार है विवाह। आजकल विवाह समाज के सम्मुख एक समस्या बन बैठा है। विवाह के अनेक पहलू हो सकते हैं। यहाँ हम 'अश्क' जी के एकांकियों में परिलक्षित पहलुओं पर विचार करेंगे।

'कामदा' एकांकी में विवाह का आर्थिक पहलू दिखाया गया है। कामदा दीवान साहब की पढ़ी-लिखी बेटी है। वह मुकुंद से प्रेम तो करती है परन्तु यह देखकर कि वह मुश्किल से डेढ़ सौ रुपये महीना कमाता है, उसके साथ विवाह करने को तैयार नहीं होती। कामदा के आग्रह से विज्ञापन दिया जाता है और दक्षिण हैदराबाद के एक रईस चंद्रकान्त से उसका विवाह निश्चित हो जाता है; लेकिन ऐन विवाह के अवसर पर चन्द्रकान्त की पहली पत्नी आकर विवाह-मण्डप में यह घोषित करती है कि उसका पति चन्द्रकान्त अत्यन्त दुराचारी है और इसके पहले और भी दो लड़कियों को धोखा दे चुका है। यह सुनकर कामदा के माता-पिता के सम्मुख बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है। अन्त में मुकुंद को ही मनाकर उसके साथ कामदा का विवाह कर दिया जाता है।

इस एकांकी में विवाह के संबंध में कुछ मौलिक विचार अभिव्यक्त हुए हैं। कामदा की सखी मिन्नो विवाह में आर्थिक पहलू को महत्त्व नहीं देती। वह कामदा को समझाती है—"मैं मानती हूँ कि रुपया बड़ी चीज़ है। मैं यह भी मानती हूँ कि विवाह का एक आर्थिक पक्ष भी है। किन्तु वह आर्थिक पक्ष ही सब कुछ है, यह मैं नहीं मानती। जिन शादियों की नींव आर्थिक आवश्यकताओं पर रखी जाती है, वे बहुत कम सफल होती हैं। शादी जब तक दो दिलों की नहीं होती, असफल रहती है।"[३]

कामदा की माँ प्रमदा पहले तो बेटी का पक्ष लेती रहती है; पर चन्द्रकान्त की धोखेबाजी का पता चलने पर वह बेटी को समझाती है—"तू नहीं जानती कि धन-संपत्ति की बाहर से रंगीन और दृढ़ दिखाई देनेवाली लकड़ी को अन्दर से कितने घुन लगे होते हैं।... प्रेम एक सापेक्ष-सी वस्तु है, बेटी।"[४]

दीवान साहब का विचार भी मौलिक है —"सम्पत्ति से वैभव का पता तो चलता है, पर चरित्र का नहीं।"[५] इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैवाहिक सुख केवल धन-दौलत पर अवलंबित नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आजकल की युवतियाँ पढ़े-लिखे, अच्छे स्वभाव वाले और होनहार परन्तु गरीब लड़के की अपेक्षा किसी धनवान के लड़के को पसन्द करती हैं। उनकी यह धारणा होती है कि डेढ़ सौ रुपये महीने की कमाई में तो आजकल एक अच्छी साड़ी भी

---

३. 'कामदा' एकांकी, 'पक्का गाना' संग्रह, पृ० १४६।

४. वही पृ० १५२।

५. वही पृ० १३९।

नहीं आती। वे नहीं चाहतीं कि उनका जीवन आर्थिक चट्टानों से टकराकर चूर-चूर हो जाए। अपने जीवन को अपनी समाधि बनाने के लिए वे तैयार नहीं होतीं। परन्तु ध्यान में रखने की बात है कि जीवन में धन-दौलत ही सब-कुछ नहीं है। स्व० मैथिलीशरण जी के शब्दों में —

मनःप्रसाद चाहिए केवल, क्या कुटीर क्या प्रासाद।

आधुनिक युवतियों को जिस दिन इस तथ्य का बोध हो जाएगा, वह सुदिन माना जाएगा।

आजकल विशेषतः पढ़ी-लिखी लड़कियों में अपनी रुचि के अनुसार अपना जीवन-साथी चुनने की धुन सवार है। वैवाहिक जीवन के संबंध में हर एक के अपने सपने होते हैं; परन्तु सब के सपने साकार नहीं होते। 'अश्क' जी ने 'बहनें' एकांकी में इस तथ्य पर प्रकाश डाला है।

सुहास का विवाह पुरानी पद्धति से हुआ। पढ़-लिख कर भी वह बेचारी गाय बनी रही। जिसके हाथ में उसके बाप ने रस्सी दे दी, बस उसी के पीछे चल दी। वह उस विवाह से सन्तुष्ट नहीं है। अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करते हुए कहती है—"न जाने कितनी लड़कियों के सुख-सपने पहली रात ही छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।...सचमुच हमें जीवन-साथी की ज़रूरत है। हमें स्वामी की ज़रूरत नहीं जो निरन्तर हमें स्वामिभक्ति पर लेक्चर देता रहे, या जो हमें चुन-चुन कर ऐसी किताबें पढ़ने को दे जिनमें पतिव्रता नारियों के गुणगान हों और पति को पत्नी का परमेश्वर बताया गया हो,...जो हमें इसलिए दुख दे कि उसे सहकर हम पतिव्रता कहला सकें, स्वर्ग में अपने लिए सीट रिज़र्व करा सकें।...हमें ऐसे स्वर्ग से नरक भला। स्वर्ग किसने देखा है? नरक तो रोज़ देखते हैं, वह नरक इससे बुरा न होगा।"[६]

सुहास के घर में दादी का राज है, और दादी किसी को घर से बाहर निकलने ही नहीं देती तो क्या किया जाए? सब कुछ मानो सपना हो गया है; परन्तु जीवन व्यतीत करने के लिए परिस्थिति से समझौता करना ही पड़ता है।

सुहास के विपरीत, कान्ति का स्वभाव है। वह किसी से दबकर नहीं रहना चाहती। उसके पति को टेनिस का शौक नहीं है। क्लब को भी वे कुछ ज्यादा पसन्द नहीं करते; परन्तु कान्ति ने पति से साफ कह दिया है—"यह सब कुछ मुझे घुट्टी के साथ मिला है। इन सबसे एकदम किनारा कर लेना मेरे बस की बात नहीं।" पति कई बार खीझते हैं परन्तु कान्ति रोज़ सैर को जाती है। उसकी सहेली निशा जब कहती है कि इसमें घरेलू सुख तो मिलता नहीं होगा, तो कान्ति बताती है—"घरेलू सुख एक मरीचिका है। जितना उसके पीछे भागो, वह दूर होता जाता है। मैंने उसके पीछे भागना छोड़ दिया है। जिसे लोग घरेलू सुख या वैवाहिक सुख कहते हैं वह शायद मेरे भाग्य में नहीं—पर मुझे सुख प्राप्त

---

६. 'बहनें' एकांकी, 'पक्का गाना' संग्रह, पृ० ४९।

है।"[७] फिर यह पूछने पर कि उसने विवाह क्यों किया, वह उत्तर देती है—"यह बेड़ी समाज के कोप से बचने के लिए है।"[८]

रमा घरेलू सुख प्राप्त करने का रहस्य बतला देती है—"घरेलू सुख के लिए यह जरूरी है कि पहले अपनी रुचि का साथी ढूंढ़ा जाए। ऐसा, जिससे आपको हमदर्दी हो, प्यार हो और जिसे आप से हमदर्दी और प्यार हो। फिर त्याग में भी सुख मिलता है।"[९] परन्तु त्याग से दुखमय जीवन सुखमय हो जाता है, इस कल्पना से कान्ति सहमत नहीं है।

रमा हरीश को पति के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार है। इसका कारण बताते हुए वह कहती है—"वह नहीं मानता कि ब्याह के बाद पत्नी की सत्ता पति में लीन हो जाती है। उसका विचार है कि ब्याह के बाद पत्नी को अपनी सत्ता अक्षुण्ण रखनी चाहिए। उसे अपने व्यक्तित्व को पूर्ण करते रहना चाहिए। स्त्री-पुरुष सागर की दो लहरों के समान हैं, चाहें तो साथ-साथ मिलकर एक होकर चलें और चाहें तो विलग हो कर अपनी-अपनी धुन में बहे जाएँ। प्रथाओं और परंपराओं का हरीश पर कोई दबाव नहीं।"[१०]

निशा के सपने दूसरे प्रकार के हैं। उसने शशधर को पति के रूप में स्वीकार करना निश्चय किया है। वे बेहद सीधे-सादे, भोले-भाले व्यक्ति हैं। विवाह में भी टीमटाम की जरूरत नहीं समझते। निशा को ऐसा साथी चाहिए था, जिसे अपने आप से प्यार न हो बल्कि जो वास्तव में प्यार चाहता हो। दिन के काम से थक कर जब घर आये तो घर का आराम चाहे। थोड़ा-सा स्नेह पाकर भी संतुष्ट हो जाए। शशधर को निशा ने ऐसा ही पाया।

आगे चलकर हम देखते हैं कि हरीश का रति बहन से और शशधर का रजनी बहन से विवाह हो जाता है और रमा तथा निशा हाथ मलती रह जाती हैं। उनकी स्थिति पंख टूटे पक्षी की तरह हो जाती है।

कथ्य यह है कि विवाह केवल सपनों से सम्पन्न नहीं किया जा सकता। उसके लिए त्याग और समझौते की नितान्त आवश्यकता है। अन्यथा पारिवारिक जीवन कदापि सुखमय नहीं हो सकता।

'अश्क' जी ने वैवाहिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण बड़ी सूक्ष्मता से किया है। भारतीय संस्कृति पति-पत्नी के नाते को जन्म-जन्मान्तर का नाता मानती आयी है। वह न टूटने वाला सम्बन्ध होता है; परन्तु आजकल की दुनिया स्वार्थी बन गयी है। वह किसी व्यक्ति से तभी तक सम्बन्ध रखती है जब तक उसका स्वार्थ सिद्ध होता है। 'चिलमन' एकांकी में यह पहलू उभर कर आया है।

---

७. 'बहनें' एकांकी, 'पक्का गाना' संग्रह, पृ० ६३।

८. वही पृ० ६३।

९. वही पृ० ६४।

१०. 'बहनें' एकांकी, 'पक्का गाना' संग्रह, पृ० ५३।

हरि सुविख्यात कवि है। उसकी पत्नी किरण चार वर्षों से रीढ़ की हड्डी के नासूर से बीमार है। हरि चौबीसों घंटे किरण की शुश्रूषा करता रहता है। डॉक्टरी इलाज जारी है। इंजेक्शन लगवाकर, प्लास्टर चढ़वा कर किसी तरह किरण को जीवित रखा जा रहा है लेकिन घर के शेष सभी लोग उसकी बीमारी से त्रस्त हो गये हैं। उसकी बीमारी के बारे में उनकी प्रतिक्रियाएँ विचारणीय हैं। हरि की माँ कहती है—"आज चार बरस से हँसी-ठहाके इस घर के लिए पराये हो गये हैं। सदा यहां मौत का-सा समाँ छाया रहता है। . . .बहू की बीमारी का क्या ठिकाना? और साल भर भी चल सकती है।"[११]

हरि की बहन रूपा के मन में भी किरण के प्रति आत्मीयता नहीं रही है। वह किरण को लक्ष्य कर हरि से कहती है—"अब इसमें रखा ही क्या है। कभी तृप्त न होने-वाली जोंक की तरह मुई इस बीमारी ने इसका सारा लोहू पी लिया है। तुम बेकार ही इसकी यातना को बढ़ाये जा रहे हो। बेकार ही सारा-सारा दिन इसके सिरहाने परेशान बैठे रहते हो।. . .न जाने कब तक तुम इस कंकाल के सिरहाने बैठे रहोगे।"[१२]

हरि का मित्र मनोहर भी किरण का जीवित रहना पसन्द नहीं करता। वह हरि से कहता है—"तुम कहते हो नासूर भर रहा है। मैं कहता हूँ इसका सारा शरीर नासूर बन गया है। यह अब कभी न भरेगा।. . .अब इन प्लास्टरों और डॉक्टरों से इसको मुक्ति दो।"[१३]

विचारणीय यह है कि किरण मरणासन्न तो है परन्तु जीने की इच्छा उसमें विद्यमान है। ऐसी स्थिति में हरि के मित्र या घरवालों का उपरोक्त दृष्टिकोण कहाँ तक उचित है? क्या घर का कोई व्यक्ति जब तक सुन्दर है, चलता-फिरता है, उपयोगी है, तभी तक उसके प्रति घरवालों तथा अन्य लोगों की आत्मीयता बनी रहे? क्या बूढ़ा या बीमार होने से ही व्यक्ति इतना तिरस्करणीय और त्याज्य बनता है? क्या उस व्यक्ति के प्रति घरवालों का कोई कर्तव्य नहीं है? क्या मनुष्य को इतना स्वार्थी होना चाहिए?

'लक्ष्मी का स्वागत' चिलमन की कथा-वस्तु से मिलता-जुलता 'अश्क' जी का एक और सुप्रसिद्ध एकांकी है। हरि का किरण से जैसा निस्सीम प्रेम है, वैसा ही इस एकांकी के रोशन का अपनी पत्नी से है। अभी चार ही दिन हुए रोशन की पत्नी चल बसी है। उसका बेटा अरुण डिप्थीरिया से बीमार है। प्रतिक्षण उसकी तबियत गिर रही है। रोशन को डर लगता है कि कहीं पत्नी की तरह बेटा भी उसे छोड़कर न चला जाए। इधर अरुण जीवन-मरण की कगार पर है और उधर रोशन की माँ बेटे के लिए नयी बहू ढूँढ़ने में व्यस्त है। सियालकोट के एक बड़े व्यापारी अपनी बेटी का शगुन लेकर रोशन के घर पहुँचते हैं। रोशन के माता-पिता नहीं चाहते कि अरुण जीवित रहे क्योंकि बड़ा रिश्ता पाने के रास्ते में वे उसे रोड़ा समझते हैं।

---

११. 'चिलमन' एकांकी, '२५ श्रेष्ठ एकांकी' संग्रह, पृ० १०९।

१२. वही पृ० ११५।

१३. वही पृ० ११७।

कैसे पाषाण-हृदय हैं ये लोग! संसार की यह कैसी निर्मम-निष्ठुर रीति है! घर में बच्चा मरणासन्न है और इन्हें विवाह की बात सूझ रही है।

जब रोशन शादी करने से इनकार करता है तब माता उसे दुनियादारी की बातें समझाते हुए कहती है—"तुम जानते हो बच्चा, दुनिया-जहान का यह कायदा है। गिरे हुए मकान की नींव पर ही दूसरा मकान खड़ा होता है। रामप्रताप ही को देखो! अभी दाह-कर्म-संस्कार के बाद नहा कर साफा भी न निचोड़ा था कि नकोदर वालों ने शगुन दे दिया। एक महीने के बाद शादी हुई और अब सुनते हैं, बच्चा भी होनेवाला है।"[१४] रोशन फिर भी इनकार करता है तब उसके पिताजी उससे कहते हैं—"तुम शगुन न लेना चाहो तो मैं शगुन ले रहा हूँ—घर आयी लक्ष्मी का निरादर नहीं कर सकता।"

इधर पिताजी शगुन लेकर भीतर आने लगते हैं कि रोशन मृत बालक का शव लेकर वहीं आ जाता है।

रोशन के पिताजी ने भी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरे महीने में ही पुनः विवाह कर लिया था, इसलिए उनसे यही अपेक्षा रखी जा सकती है; परन्तु प्रश्न यहीं समाप्त नहीं होता। मनुष्य-मनुष्य में, विशेषतः आत्मीय जनों में जो प्रेम, जो लगाव और जो आत्मीयता होनी चाहिए वह क्या इतनी क्षणिक है! क्या परिवार एक घड़ी या यंत्र है कि एक पुरजा बेकाम हुआ तो उसे फेंककर दूसरा जोड़ लिया? विचार-शक्ति होने पर भी यदि मनुष्य विचार करना छोड़ दे तो उसमें और पशु में अंतर ही क्या रहा? एक ही परिवार के लोग परस्पर प्रेम, सहानुभूति न रखें तो उस परिवार के टूटने और बिखरने में कितनी देर लगती है?

प्राचीन काल में हमारे यहाँ संयुक्त-परिवार-पद्धति थी। परिवार का मुखिया बहुत बड़े परिवार की एकता को बनाये रखने में प्रयत्नशील रहा करता था; लेकिन जैसे-जैसे समय बदलता जा रहा है वैसे-वैसे संयुक्त परिवार की एकता भी संकट में पड़ती जा रही है। एक बड़ा परिवार अनेक छोटे परिवारों में विभक्त हो रहा है। 'अश्क' जी ने 'सूखी डाली' एकांकी में संयुक्त परिवार के टूटने के एक महत्त्वपूर्ण कारण की मीमांसा की है। लेखक ने भूमिका में बिलकुल सही लिखा है कि "परिवार हो, सरकारी या गैरसरकारी विभाग हो अथवा देश—जहाँ भी मुखिया तानाशाह किस्म का सख्तगीर व्यक्ति है, उसके आदेश का पालन करने वाले साधारण लोग उसके आदेशों की आत्मा को न पकड़ उसके शब्दों को पकड़ लेते हैं और उसका पालन ऐसे मशीनी ढंग से करते हैं कि उनकी रूह ही गायब हो जाती है; और जिनके हितार्थ आदेश जारी होते हैं उन्हीं का अहित हो जाता है।"[१५]

मानव-प्रगति के इस युग में जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अराजकता की हद तक महत्त्व दिया जा रहा है और तानाशाही को सभ्य समाज में अत्यन्त निन्दनीय माना जा रहा

---

१४. 'लक्ष्मी का स्वागत' एकांकी, '२५ श्रेष्ठ एकांकी' संग्रह, पृ० ३०१।

१५. 'सूखी डाली' एकांकी की भूमिका, '२५ श्रेष्ठ एकांकी' संग्रह, पृ० १९३।

है, वहाँ दादा मूलराज अपने समस्त परिवार को एक इकाई बनाये, उस पर अपना पूर्ण रूप से प्रभुत्व जमाये उस महान बरगद की तरह खड़े हैं; जिसकी लम्बी-लम्बी डालियाँ उनके आँगन में एक बड़े छाते की तरह धरती को आच्छादित किए हुए, अगणित घोंसलों को अपने पत्तों में छिपाये, वर्षों से तूफानों और आँधियों का सामना किये जा रही हैं।

दादा मूलराज ७२ वर्ष के हैं। उनके दो बेटे, उनकी बहुएँ, फिर तीन पोते और उनकी तीन बहुएँ, फिर एक पोती इन्दु, ये सब उस बड़े बरगद की अनेक शाखाओं के रूप में हैं। छोटा पोता परेश नायब तहसीलदार है और उसकी बहू पढ़ी-लिखी ग्रेज्युएट है, अमीरी में पली है। ससुराल में आने पर उसे ससुराल का पुराना फर्नीचर, पुरानी नौकरानियाँ, ससुराल के लोगों की आदतें, या यों कहें कि ससुराल की एक चीज़ भी पसन्द नहीं है। वह नारी-स्वतंत्रता की पक्षपाती है, पर यहाँ तो दादा का राज है; किसी का अपना व्यक्तिगत मत नहीं—जैसे दादा कहें वैसे ही होगा।

छोटी बहू बेला जब परेश को अलग घर बसाने की सलाह देती है तब वह इस विचार मात्र से थर्रा उठता है। आज तक दादा सबको यही समझाते आये हैं—"मेरा परिवार एक महान पेड़ है। हम सब उसकी डालियाँ हैं। डालियों ही से पेड़ पेड़ है, और डालियाँ छोटी हों चाहे बड़ी, सब उसकी छाया को बढ़ाती हैं। मैं नहीं चाहता, कोई डाली इससे टूटकर अलग हो जाए।. . .पेड़ से अलग होने वाली डाली की कल्पना ही मुझे सिहरा देती है।"[१६]

दादा छोटी बहू को अलग होने देना नहीं चाहते। वे पुरानी नौकरानी को बदल देते हैं, नया फर्नीचर मँगवाने के लिए कहते हैं। घर का कोई काम छोटी बहू पर नहीं छोड़ा जाता। परिवार के सब लोग उसका सम्मान करने लगते हैं। पहले घृणा से सब उससे दूर रहते थे, अब आदर से दूर रहने लगते हैं। बेला पहले इस घर में अपने को पराया अनुभव करती थी, अब भी अनुभव करती है। अपने इस दुख को दादाजी के सम्मुख व्यक्त करते हुए वह कहती है—"दादाजी, आप पेड़ से किसी डाली का टूट कर अलग होना पसन्द नहीं करते, पर क्या आप यह चाहेंगे कि पेड़ से लगी-लगी वह डाली सूख कर मुरझा जाए?"[१७]

संयुक्त परिवार से सम्बन्धित इस नाजुक तथ्य को 'अश्क' जी ने बड़ी कुशलता से प्रदर्शित किया है। इस एकांकी में यही दिखाया गया है कि किसी ऐसी व्यवस्था में, जिसे एक तानाशाह चलाता है, उसकी तमाम सदाशयता के बावजूद व्यक्ति विकास नहीं कर पाता। भूमिका में मनोवैज्ञानिक सत्य पर भी विचार प्रकट किया गया है, जैसे—"संयुक्त परिवार तब तक ही चलते हैं जब तक कि उनकी धुरी—वह कोई दादा, पिता, बड़ा भाई या माँ हो सकती है—अपूर्व दक्षता और मनोवैज्ञानिकता से परिवार के सारे सदस्यों को एक सूत्र में बाँधे रखती है—जब तक कि परिवार के छोटे-से-छोटे सदस्य के मनोविज्ञान का भी ख्याल रखा जाता है और उसे मुरझाने या टूटने नहीं दिया जाता।. . .यह बात जैसे एक परिवार

---

१६. 'सूखी डाली' एकांकी, '२५ श्रेष्ठ एकांकी' संग्रह, पृ० २१०।
१७. 'सूखी डाली' एकांकी, '२५ श्रेष्ठ एकांकी' संग्रह, पृ० २१९।

के संदर्भ में सच उतरती है वैसे पूरे देश पर भी लागू होती है। कोई देश पूर्ण विकास तभी कर सकता है जब उसमें समाज के साथ-साथ व्यक्ति के विकास का भी ख्याल रखा जाए। वरना देर-सवेर उसकी व्यवस्था में दरारें पड़ जाती हैं और एक दिन आता है, जब पूरी की पूरी व्यवस्था अंदर से खोखली हो, भरभरा कर ढह जाती है।"[१८]

इस एकांकी में एक ही सत्य के दो पक्षों को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है। तानाशाह की उदारता, व्यापक दृष्टि, परिवार, समाज अथवा देश को एक सूत्र में बाँधने के आदेश तो देती है; परन्तु उनका पालन करनेवाले लोग उन आदेशों की असली आत्मा को न पहचानने के कारण जोश में आकर कई बार अति कर जाते हैं। देश और परिवार, चूँकि बड़ी चीज़ें हैं, उन्हें टूटने में देर लगती है, लेकिन व्यक्ति पहले टूटता है। परिवार समाज अथवा देश का प्रतीक है तो मुखिया शासक का। तानाशाही का समय अब लद गया, चाहे वह परिवार में हो, चाहे देश में।

पारिवारिक जीवन में कभी-कभी बिल्कुल साधारण कारणों से पति-पत्नी में संघर्ष छिड़ जाता है और उसका पर्यवसान तलाक तक में हो जाता है। 'तौलिये' एकांकी में यही समस्या ली गयी है। सफाई और गंदगी को लेकर मधु और वसंत में यहाँ तक झगड़ा हो जाता है कि वसंत घर छोड़कर बनारस चला जाता है और डेढ़ महीने तक कोई आत्मीयतापूर्ण पत्र तक नहीं लिखता। मधु को अपनी हठवादिता पर पछतावा होता है और वह अपने स्वभाव को बदलने का निश्चय करती है।

यहाँ लेखक यही दिखाना चाहता है कि स्वच्छता बुरी नहीं, न सुरुचि बुरी है, परन्तु मनुष्य जब उसको सनक की सीमा तक पहुँचा देता है तब संघर्ष निश्चित है। मधु अपने आप को झूठे बँधनों में इतना जकड़ लेती है कि उसे वसन्त का ज़रा-सा खुलापन भी अखरता है। संघर्ष की जड़ यही है। विचारणीय तथ्य यह है कि आदमी सीमाओं को छूता हुआ क्यों चले? बीच का मार्ग क्यों न अपनाए? न इतना खुले कि बर्बर दिखाई दे, न इतना बँधे कि सनकी कहलाए।

परिवार के लोगों में जो आपसी संबंध या रिश्ते-नाते होते हैं वे सब मनुष्य ही के द्वारा बनाए गये हैं और मनुष्य ही उन बँधनों को तोड़ भी सकता है। (विशेषतः, अनपढ़ या असंस्कृत लोगों के दुर्व्यवहार ने सौतेली माँ को हौआ बना दिया है। ये लोग पहले ही से यह धारणा बना लेते हैं कि सौत का बेटा अपना बेटा नहीं होता, अपने खून से बना नहीं होता। परिवार की चाचियाँ-ताइयाँ, नानियाँ-दादियाँ बच्चे के मन में ऐसा ज़हर घोल देती हैं कि अपने माँ-बाप के साथ वह निभा ही नहीं सकता। माँ के लिए बच्चा सौतेला सही, पर बाप के लिए तो अपना होता है; परन्तु ताइयों-दादियों के बहकावे में आकर वह बाप का भी सौतेला हो जाता है। 'कुसुम का सपना' एकांकी में इस तथ्य का उद्घाटन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है।

---

१८. 'सूखी डाली' एकांकी की भूमिका, '२५ श्रेष्ठ एकांकी' संग्रह, पृ० १९७।

प्रस्तुत एकांकी के प्रमुख पात्र दिनेश की पहली पत्नी मर चुकी है और उसके सुरेश नाम का एक बेटा भी है। परन्तु दूसरा विवाह करने के पहले, इस धारणा से कि सौतेली माँ अपने पहले बेटे से प्यार नहीं करेगी, वह उसे माँ के पास भेज देता है। इधर, दिनेश की दूसरी पत्नी कुसुम विवाह के दिन से ही एक कोमल सपना मन में सँजो लेती है। वह सौतेले बेटे के प्रति उतना ही स्नेह प्रदर्शित करना चाहती है, जितना वह अपने सगे बेटे के प्रति प्रदर्शित करती है। कुसुम का विचार है—"सौतेली माँ क्या माँ नहीं होती? उसके पहलू में क्या नारी का हृदय नहीं होता? और फिर अपने बच्चे को कौन सिंहासन पर बैठा देते हैं?"[१९] सौतेली माँ होते हुए भी सगी माँ से अधिक प्यार जता कर तथा इस विषय में लोगों के भ्रम को दूर कर कुसुम एक नया आदर्श स्थापित करना चाहती है।

दिनेश के घर आते ही वह सुरेश को अपने पास बुलवा लेती है और निश्छल रूप से अपना समस्त स्नेह उसे देकर यही चेष्टा करती है कि वह उसे पराया न समझे। परन्तु सुरेश उससे दूर हटता जाता है, क्योंकि सौतेली माँ के संबंध में उसके मन में पहले ही से कुछ ग्रंथियाँ उत्पन्न कर दी गयी हैं। कुसुम हर संभव यत्न से उसे जल्दी सुधारने का प्रयत्न करती है; परन्तु अपनी शीघ्रता के कारण वह असफल और निराश हो जाती है।

'अश्क' जी ने इस एकांकी में बच्चों के मनोविज्ञान पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'हमारे घरों की समस्या' नाम से रेडियो पर एक भाषण-माला प्रसारित कर उसके अंतर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बतायी गयी हैं जो परिवार के बुजुर्गों के लिए मार्गदर्शक हो सकती हैं। उसमें कहा गया है—"हमारे घरों की एक बड़ी समस्या बच्चों की है। बच्चों के मनोविज्ञान का अनुभव बिरले ही माता-पिता को होता है।...खेद की बात है कि माता-पिता अपने परिपक्व मानस की ऊँचाई से बच्चों को देखते हैं, जब कि ज़रूरत इस बात की है कि वे बच्चे के अपरिपक्व मानस की निचाई तक उतर कर उसके मनोविज्ञान को समझने का प्रयत्न करें।.. यदि बच्चे को माता या पिता के प्यार पर विश्वास न हो तो वह उनके सामने कभी न खुलेगा और उसके मन में कई उलझनें पैदा हो जाएँगी। वह झूठ बोलेगा, चोरी करेगा और कई तरह की विषमताओं का शिकार बन जाएगा।"[२०]

बच्चों के पालन-पोषण तथा उनके विकास के संबंध में इस एकांकी में अभिव्यक्त 'अश्क' जी के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने एकांकियों में 'अश्क' जी ने सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने के साथ ही सुखी पारिवारिक जीवन की उपलब्धि के लिए आवश्यक बातों की ओर भी संकेत किये हैं। अपनी इन विशेषताओं के कारण निःसंदेह हिन्दी एकांकीकारों में 'अश्क' जी का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, अप्पा साहब, गरवारे कालेज, पूना

---

१९. 'कुसुम का सपना' एकांकी, 'साहब को जुकाम है' संग्रह, पृ० १०५।
२०. 'कुसुम का सपना' एकांकी, 'साहब को जुकाम है' संग्रह, पृ० १३९।

नयी कविता के संदर्भ में : काव्य-भाषा पर पुनर्दृष्टि

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय

⊙ ⊙

जयशंकर प्रसाद ने कहा था कि "काव्य एक संकलपातमक अनुभूति है ... अनुभूति के लिए शब्द-विन्यास-कौशल तथा छंद आदि भी अत्यंत आवश्यक नहीं"। और अज्ञेय का कथन है कि "नई कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से संबंध रखता है ... काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में भी यह बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।"

छायावाद और नई कविता की दृष्टि और दृश्य के अंतर को मात्र इन दो उद्धरणों से समझा जा सकता है, जो दोनों धाराओं के प्रतिनिधि कवियों द्वारा दिये गये हैं। काव्य के केन्द्र से अनुभूति को हटाकर भाषा की स्थापना महज दृश्यान्तर नहीं, युगान्तर की सूचक है। काव्य-रचना और काव्य-चिंता के प्रति एक निर्वैयक्तिक और वस्तु-बोधनिष्ठ अभिवृत्ति नई कविता को न केवल छायावाद से अलग करती है, वरन् भावोच्छ्वास और सौंदर्य-संवेदन (रस) परक हिन्दी की आलोचना-पद्धति से भी अलग करती है।

डा० नामवर सिंह ने लिखा है कि "प्रयोगशील कवि का सत्य इतना (छायावादी सत्य की भाँति) सहज न था। उसने अनुभव किया कि परिवेश का बोध भाषा की क्षमता पर निर्भर है। किसी भाषा की शक्ति उसकी बोधशक्ति का प्रमाण है : व्यवित का अपना भाषा-संसार ही अनुभव का संसार है; इसलिए अनुभव-संसार के विस्तार के लिए भाषा-संसार का प्रसार अनिवार्य शर्त है।" जिस तरह हिन्दी के नये कवियों को भाषा के महत्त्व की यह अवगति पश्चिम से हुई है, उसी तरह नए काव्यालोचन की अर्थ-मीमांसा भी पश्चिम के अर्थ-विज्ञान (सेमेंटिक प्रिंसिपिल) से प्रभावित है, लेकिन अज्ञेय ने—जो इस चिंतन के आधुनिक प्रवक्ता हैं—नई कविता की शब्दार्थ दृष्टि के संदर्भ में कालिदास के श्लोक "वागर्थाविव सम्पृक्तौ" को उद्धृत कर परम्परा के भीतर भाषा-दृष्टि को पहचानने की एक तर्कसंगत पहल की है।

पश्चिम में इन दिनों 'पृष्ठ पर अंकित कविता' (पोयम आन दि पेज) संबंधी वस्तुगत समीक्षा-पद्धति की सर्वाधिक चर्चा है—लेकिन भारत में दसवीं शती के आचार्य कुंतक ने अपने 'वक्रोक्ति सिद्धांत' के अंतर्गत काव्य-भाषा और काव्यालोचन की दृष्टि से भाषा की जो एक अत्यंत गहरी और विस्तृत मीमांसा की है, उससे यह सिद्ध होता है कि वे भारतीय काव्य-शास्त्र में आधुनिक दृष्टि के प्रवर्तक हैं। संभव है कि इतने विस्तृत और गहन भाषा अव-बोधन का विश्व में यह पहला प्रमाण हो।

आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के साथ कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धांत की तुलना में भले ही कुछ भूलें की हों, परन्तु इस बहाने उन्होंने दसवीं शती के इस प्रखर भारतीय आचार्य को आधुनिक पाश्चात्य चिंतक की स्पर्द्धा में खड़ा कर दिया और हिन्दी आलोचना का ध्यान कुंतक की ओर—प्रकारांतर से ही सही—आकर्षित हुआ।

भारतीय काव्य-दृष्टि पर सदैव रस-सिद्धांत का दबाव अनुभव किया गया, किन्तु एक तो रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया नाटक के लिए थी और दूसरे इसमें रस के उत्पादक मूर्त मात्र तत्वों को गौण माना गया था; जबकि काव्य में उत्पादक और उत्पाद्य का भेद मात्र औपचारिक है। जहाँ तक काव्य-सृजन का प्रश्न है, अनुभूति शब्द में पर्यवसित और मूर्त होती है। लेकिन आस्वादन के क्षणों में सहृदय मूर्त से चलकर ही अमूर्त तक पहुँचता है। कुछ सहृदयों के लिए यह यात्रा इतनी त्वरित भी हो सकती है कि उन्हें मूर्त और अमूर्त में अभेद की प्रतीति या आनंदवर्धन के शब्दों में 'झटिति प्रत्यय' हो; परन्तु काव्यानुभूति का मार्ग यही है।

स्वरूप पक्ष की अवहेलना की तीव्र प्रतिक्रिया संस्कृत काव्य-शास्त्र में हुई। भरत के बाद आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा—भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि— ने काव्य में रूपवाद की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया। लेकिन अलंकार को काव्यात्मा के रूप में स्वीकारना संभव नहीं था, क्योंकि वे स्वयं ही 'अलंकार' थे और काव्य की अपेक्षा संगीत और चित्रकला की जरूरतें अधिक पूरी करते थे। रीति को काव्य की 'आत्मा' कहकर वामन ने उसकी वस्तुनिष्ठता का स्वयं ही निषेध कर दिया था। आगे चलकर आचार्य आनंदवर्धन ने शब्दार्थ और संघटना के मनोहर प्रपंच से उत्पन्न प्रतीयमान अर्थ को 'काव्यात्मा' कह कर रूपवादियों को भी यत्किंचित् आश्वस्त किया। लेकिन नवीन स्थापना के बावजूद ध्वनि-सिद्धांत अपने विवेचन और निष्कर्ष में आध्यात्मिक था और स्वभाव से रस-सिद्धांत के निकट था। इसीलिए आचार्य अभिनव गुप्त ने न केवल 'नाट्य-शास्त्र' पर अपितु 'ध्वन्यालोक' पर भी टीका लिखी। लेकिन ध्वनि-सिद्धांत के कारण इसका स्थान फिर भारतीय काव्यशास्त्र में निरापद नहीं रहा। रस को पूरी तरह प्रतिष्ठित करने वाले विश्वनाथ कविराज ने अन्यत्र रस को ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्य व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत परिगणित किया। बहरहाल, अभिनव गुप्त के युग में ही इस एकरसता को तोड़ा आचार्य कुंतक ने, जिन्होंने काव्य में 'रूप-जीवन' की अत्यंत प्रखर साहस से प्रतिष्ठा की।

रस को काव्यात्मा मानने वाली रीतिकालीन काव्यदृष्टि आधुनिक युग में भी एक लम्बे अर्से तक काव्यालोचन में स्वीकृत रही है और अब भी वह अकादमिक क्षेत्र में ज्यों-की-त्यों स्वीकृत है। इसका सबसे बड़ा दुष्प्रभाव यह हुआ कि न केवल कुंतक जैसे आचार्यों को, बल्कि भाषा को भी हमने हाशिये में डाल दिया। असल में बुनियादी गलती तो यही हुई कि कुंतक को मात्र रूपवादी माना गया, क्योंकि कुंतक ने काव्याभिव्यक्ति में अनुभूति और अन्य सभी काव्य-गुणों का अंतर्भाव करके भाषा और अनुभव, अलंकार और अलंकार्य, वाचक और वाच्य, वाच्य और व्यंग्य के भेदों को पाट दिया। इस माने में "सम्पूर्ण कलाओं

को अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति को ही कला" मान कर, इनके बीच एकात्मता स्थापित करने वाले क्रोचे से वे वस्तुनिष्ठता और मूर्तिमत्ता की दिशा में अधिक तार्किक, व्यावहारिक और आधुनिक हैं।

आचार्य कुंतक भारतीय काव्य-शास्त्र में आधुनिकता के आदि प्रवर्त्तक हैं। आलंकारिक आचार्य भामह ने 'शब्द और अर्थ की समष्टि' को काव्य कहा था। लेकिन कुंतक ने काव्य में शब्दार्थ की 'विशिष्ट' स्थिति मानते हुए उसमें 'वक्र कवि-व्यापार से युक्त' शब्द जोड़ना आवश्यक समझा, और जोर दिया कि शब्द और अर्थ 'तिल और तैल की तरह' सम्पृक्त होने चाहिए। दोनों का मित्रवत् पारस्परिक शोभन होना अनिवार्य है। किसी एक की न्यूनता से साहित्य अपनी सार्थकता खो देता है। काव्य के मौलिक आधार के रूप में दोनों की सार्थक और समर्थ मैत्री होनी चाहिए, वरना अनुपयुक्त शब्द जहाँ मृत अर्थ को प्रकट करता है, वहीं अयोग्य अर्थ को व्यक्त करने वाला शब्द वाक्य का बोझ बन जाता है।

सामान्य भाषा और काव्य-भाषा का अंतर विवेचित करते हुए कुंतक ने स्पष्ट किया कि अनेक पर्यायवाची शब्दों के होते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक शब्द एक ही होता है। यही विलक्षण और अद्वितीय—काव्यार्थ को उद्भासित करने वाला— शब्द ही कविता में 'शब्द' कहा जाता है। ठीक उसी तरह सहृदय आह्लादक स्पन्दित अर्थ ही कविता में 'अर्थ' कहा जाता है। यहाँ कुंतक, आनंदवर्धन के इस कथन को व्यापकता देते हुए प्रतीत होते हैं कि 'व्यंग्यार्थ को व्यक्त करने वाला कोई शब्द ही होता है, शब्द मात्र नहीं।' ध्वनिकार जहाँ व्यंग्यार्थ प्रकट करने वाले शब्द पर जोर देते हैं, वहीं कुंतक ऐसे योग्य शब्द पर जोर देते हैं जो अपनी जगह अद्वितीय हो और अपने नियत शब्दकोशी अर्थ से विशिष्ट अर्थ उत्पन्न करता हो। कुंतक यहाँ अधिक व्यावहारिक इसलिए प्रतीत होते हैं कि कई बार अनेकार्थी शब्द के किसी वैकल्पिक अर्थ-प्रयोग से भी वह शब्द काव्य का 'शब्द' बन जाता है, जरूरी नहीं कि वह व्यंग्यार्थ ही प्रकट करे। मुख्य बात यह है कि काव्य में शब्द और अर्थ का वजन समान हो, यह नहीं कि जो अर्थ प्रकट करना हो उसके लिए शब्द ओछा पड़ जाय या वजनी हो जाए। दूसरी शर्त यह है कि शब्दार्थ की मैत्री काव्य में सौन्दर्य के प्रति उत्तरदायी हो और अपने अपूर्व स्वभाव की गरिमा स्थापित करते हुए अंततः रस का पोषण करे। अब इतने पर भी अगर कोई कुंतक को रूपवादी कहे या वक्रोक्ति को मात्र अलंकार कह कर उन्हें 'परास्त' घोषित कर दे तो किया ही क्या जा सकता है? अगर कुंतक रूपवादी ही होते तो वे काव्य में आरोपित अलंकरण का विरोध क्यों करते?

रचना की प्रभावान्विति के स्तर पर आनंदवर्धन ने कवि को प्रजापति कहा था। परन्तु कुंतक ने विशिष्ट शब्दार्थ के प्रयोक्ता के रूप में कवि को सर्वोपरि स्थान दिया। वे कवि-व्यापार को काव्य में सर्वाधिक महत्व देकर न केवल कविता को, वरन् कवि की रचना-प्रक्रिया गौरवान्वित करते हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि को असाधारण महिमा-मंडित

करने की जो अतिवादी परम्परा चली आ रही थी, उसे कुंतक की वस्तुनिष्ठ दृष्टि ने निरस्त कर दिया और कवि-व्यापार को मूल्यांकन के केन्द्र में स्थापित कर कवि को उसकी यथार्थ, मानवीय प्रतिष्ठा दी।

कुंतक ने रस को काव्य-फल के रूप में तो मान्यता दी, लेकिन काव्य-मूल्य के रूप में नहीं, क्योंकि मूल्य फल में नहीं प्रक्रिया में होता है जो अपनी संगत समग्रता में ही फल को उपलब्ध करती है। कुछ लोगों की मान्यता है कि कवि की अवधारणा बिम्बात्मक होती है, परन्तु कुंतक के अनुसार वह भाषिक होती है। भाषा स्वयं कवि के संज्ञान, संप्रश्न, अनुभव, प्रतिभा, अभिप्राय और कुशलता का मूर्त रूप है। इसीलिए कुंतक ने वक्रोक्ति को—जिसे काव्योक्ति भी कह सकते हैं—काव्य का जीवन कहा है। गौर करने की बात है कि अन्य सिद्धांतों के प्रवर्तक आचार्यों की तरह उन्होंने वक्रोक्ति को 'आत्मा' नहीं कहा। काव्यशास्त्र ने वेदान्त और योगदर्शन से जो शब्दावली ली थी, उसे कुंतक ने त्याग दिया और कविता को जागतिक अर्थों में—घटना में—प्रतिष्ठित किया।

इसी के साथ 'आत्मा' के बहाने कविता में चली आने वाली समस्त दार्शनिक प्रतिपत्तियों को पहली बार काव्य से निष्कासित कर केवल नकारात्मक ही नहीं, एक विध्यात्मक काव्य-मीमांसा-प्रणाली आविष्कृत की। कविता को दर्शनादि समस्त बाह्य आभासों और फैलेसियों से मुक्त किया। यही कारण है कि उनके परवर्ती आचार्य क्षेमेन्द्र ने रीति, ध्वनि आदि की परिपाटी पर औचित्य को काव्यात्मा नहीं 'काव्य-जीवन' कहा—"औचित्यं जीवितं काव्यम्"। इधर हिन्दी में, काव्य में, ध्वनि का समर्थन करने वाले कुलपति ने व्यंग्यार्थ को काव्य का 'जीवन' कहा—"व्यंग्य जीवतारोकहत"—उन्होंने उसे आनंदवर्धन की तरह 'आत्मा' नहीं कहा।

ध्वनिवादी पंडितराज जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा पर हमें कुंतक का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है :

कुंतक : "साहित्य मनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ
अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ।।"

जगन्नाथ : "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

सौन्दर्य के प्रति अनुकूल शब्द और अर्थ की अनिर्वचनीय मनोहारी स्थिति और रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्द में काव्यत्व की स्थिति में कोई बुनियादी अंतर नहीं है। अन्यत्र पंडितराज ने अनुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति को ही कवि-प्रतिभा कहा है। यहाँ उन्होंने काव्य की परिभाषा में छूट गए 'अनुकूल' शब्द को भी सम्मिलित कर लिया है। निश्चय ही कवि-प्रतिभा की उनकी यह परिभाषा आनन्दवर्धन की 'महाकवि' की परिभाषा की अपेक्षा कुंतक के काव्यत्व की परिभाषा के अधिक निकट है। स्पष्ट है कि कुंतक ने काव्य-दृष्टि को भीतर से कितना प्रभावित किया है।

आधुनिक हिन्दी के समीक्षा-प्रतिमानों पर रस दृष्टि प्रायः हावी रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-दृष्टि यद्यपि अत्यंत समावेशी है, परन्तु उनका झुकाव रसवाद

की ओर ही है। अतः उन्होंने आचार्य कुंतक को नकारात्मक रूप में समझने और हिन्दी को समझाने की कोशिश की है। उन्होंने केशव और रीतिकालीन कवियों के कुछ अत्यंत कृत्रिम छंदों और विचित्र, अविश्वसनीय सूझों से भरी पंक्तियों का उदाहरण देते हुए मानो यह सिद्ध किया है कि 'यह है कुंतक की वक्रोक्ति जिसे वे काव्य का जीवन कहते हैं!' कविता क्या है? में शुक्ल जी का कहना है "चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अंतर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे—अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या संबंध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।" रेखांकित अंश से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शुक्ल जी का वक्रोक्ति के बारे में क्या रवैया था। इस संदर्भ में अधिक कुछ न कह कर यहाँ अलंकार के विषय में कुंतक को उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा :

"वर्णनाविषयवस्तुनो भूषणाविधार्यत्वेनामभिमतस्य स्वरूपमात्रेण परिस्फुरतो यथार्थत्वेन निबध्यमानस्य तद्विदाह्लादविधानानुपपत्तेर्मनाङ्‌ मात्रमपि न वैचित्र्यमुत्प्रेक्षामहे, प्रचुरप्रवाह-षतितेतरपदार्थ-सामान्येन प्रतिभासनात्।" केवल सादृश्य मात्र (आलंकारिक) होने से वे किसी उक्ति को काव्य मानने को तैयार नहीं हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने यह उक्ति दी है :

"दूर्वाकाण्डमिव श्यामा तन्वीश्यामालता यथा"। अर्थात् दूब के समान श्यामवर्णी सुंदरी प्रियंगुलता जैसी लगती थी। उनके अनुसार इस प्रकार प्रयुक्त तथाकथित अलंकार सहृदय को आनंदित नहीं करते और प्रवाह में आए सैकड़ों पदार्थों की तरह नाममात्र के लिए भी उक्ति-सौन्दर्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।

अगले ही अनुच्छेद में शुक्ल जी जहाँ कुंतक का विरोध करते हैं, वहाँ यह समझना कठिन है कि वे उनसे असहमत हैं कहाँ—"चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं; पर किसी भाव की अनुभूति तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्रायः कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है।" शुक्ल जी 'चमत्कार' को काव्य में स्वीकार करते हैं। वे व्यंजना के लिए असामान्य ढंग भी आवश्यक मानते हैं। अब रही यह बात कि जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति हो, उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना होनी चाहिए। कुंतक बार-बार 'शब्द' और अर्थ की परस्पर स्पर्द्धिता पर बल देते हैं। इसका अर्थ क्या यह नहीं है कि भाव-व्यंजना की योग्यता भाषा में होनी चाहिए। वह उससे किसी हालत में कम या अधिक नहीं। अगर शब्द 'चमत्कारी', 'अनहोनी दूरारूढ़ कल्पना' वाले और पाखंडपूर्ण हैं तो निश्चय ही वे आरोपित हैं—यथा शुक्ल जी के द्वारा दिये गये केशव के उदाहरण में। कुंतक के मत में 'वक्र' का अर्थ है शास्त्रीय उपनिबंधन से भिन्न मनोहर कवि व्यापार से युक्त रचना। स्पष्ट है कि वक्रोक्ति सिद्धांत कविता के

बाह्य पक्ष को प्रतिपादित करनेवाला, चमक-दमक और आडंबर का शौकीन और मनोरंजन के लिए शब्दों का तमाशा नहीं है---जैसा कि शुक्ल जी का आरोप है; बल्कि वह काव्य-भाषा में काव्य के अंतःसंसार की सम्यक् अभिव्यक्ति को प्रतिपादित करने वाली वैज्ञानिक दृष्टि है।

शुक्ल जी को मंडन का सवैया 'अलि हौं तो गई जमुना जल को'... 'जल्दी में स्वभावतः मुँह से निकल पड़ा' जान पड़ता है। लेकिन कुंतक के अनुसार यह 'संवृत्ति वक्रता' का एक श्रेष्ठ उदाहरण माना जा सकता है—"यत्रयस्यां वस्तुपदार्थलक्षणं संव्रियते समाच्छाद्यते"। और अगर शब्द ऐसे निकल पड़ें कि अर्थ की अनुकूलता के लिए वे ही सबसे उपयुक्त शब्द जान पड़ें, तो कुंतक की वक्रोक्ति में स्वीकृत 'शब्द' होंगे। कुंतक के मत में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का विरोध नहीं है। उन्होंने स्वभावोक्ति को स्वयं ही अलकार्य माना है। उन्होंने अगर विरोध किया है तो मात्र सपाट बयानी का; इतिवृत्त कथन का। असल में शुक्ल जी ने विश्वनाथ आदि रसवादियों के ढर्रे पर ही वक्रोक्ति को ग्रहण किया है।

शुक्ल जी की विलक्षण प्रतिभा के प्रभाव से हिन्दी में उनकी अन्य आलोचनात्मक सम्मतियों की तरह कुंतक की भर्त्सना वाला मत भी चल पड़ा। इसका परिणाम यह तक हुआ कि नए कवि और समीक्षक, जो काव्य-भाषा को काव्य के सृजन-समीक्षण का चरम प्रतिमान मानते हैं, वक्रोक्ति की ओर से आँख मूँदे हुए हैं। इसलिए उन्हें लगता है कि काव्य-भाषा विषयक वस्तुगत दृष्टि वे पश्चिम से ही पा सकते हैं। उनकी इस धारणा को हिन्दी के कुछ विद्वानों ने भी अनजाने समर्थन दिया है। डा० नगेन्द्र हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् की करीब ३०० पृष्ट की भूमिका में वक्रोक्ति को समझाते हैं, लेकिन वे वक्रोक्ति का विवेचन करते हुए शीर्षक देते हैं 'काव्य की आत्मा वक्रोक्ति और उसकी परिभाषा'। कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवन' कहकर भारतीय काव्यशास्त्र की आत्मगत चिंतन प्रणाली को जबरदस्त मोड़ दिया था, वहाँ डा० नगेन्द्र 'आत्मा' कहकर अपनी विचारधारा तो व्यक्त करते ही हैं, (इससे कोई एतराज नहीं है) लेकिन कुंतक की वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन पद्धति पर पानी फेर देते हैं। बहरहाल यह सच है कि पिछले दिनों पश्चिम में और खासकर अमरीका में काव्य-भाषा पर गहरा चिंतन हुआ है। लेकिन अगर भारत में दसवीं शती में हुए इस चिंतन को सही परिप्रेक्ष्य में समझें, तो आयातित अर्थ-विज्ञान के साथ हम अपनी काव्यालोचन परम्परा से भी कुछ तो—मेरे ख्याल में बहुत कुछ—ले ही सकते हैं। इससे निश्चय ही हम मौलिक और सही संदर्भ में अपने काव्य का मूल्यांकन कर सकेंगे और पश्चिम के उदाहरणों की नकल पर अपनी कविता में से उदाहरण चुनकर आलोचना करने की प्रवृत्ति खत्म होगी। इससे हम कविता की निरंतरता को आलोचना की निरंतरता से संबद्ध कर उसकी नवीन प्रवृत्तियों का संगत मूल्यांकन कर सकेंगे।

भाषा की मुख्य विधायिनी शक्ति से भारतीय काव्यालोचन भलीभाँति परिचित है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में कहा था कि "अगर शब्द नहीं होते तो इस दुनिया में अंधेरा ही छाया रहता; शब्द की ज्योति से ही विश्व उद्भासित है"। प्रकारान्तर से यह भाषा

की रूपात्मक और अनुभव-विधायिनी शक्ति का ही स्तवन है। कवि का प्रत्यक्ष उत्तर-दायित्व भाषा के प्रति है; लोक के प्रति उसकी जिम्मेदारियाँ बहुत-कुछ अप्रत्यक्ष हैं"। टी०.एस० एलियट का यह कथन भाषा के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण का सूचक तो है ही; इसके भीतर भाषा-बाह्य काव्य-दृष्टि का तीव्र विरोध भी है। नई कविता और आलोचना के भीतर 'भाषा की हरकतों' को लेकर एक अर्से से जो बहस छिड़ी हुई है, उसकी दृष्टि भी कमोबेश यही रही है। हिन्दी के आचार्य प्राय: किसी काव्य-धारा की उपेक्षा करने के लिए उसे शिल्प का प्रयोग कह कर टाल देते थे। आचार्य शुक्ल ने छायावाद के शिल्प की प्रशंसा करने में जिस उपेक्षा भाव का परिचय दिया था लगभग वैसा ही उपेक्षा भाव आचार्य वाजपेयी ने नई कविता को शिल्प का अटपटा प्रयोग मान कर प्रकट किया। एक तरह से अपने-अपने युग में दोनों ने नई काव्य-धाराओं का जिस ढंग से विरोध किया, गुणात्मक दृष्टि से उसमें कोई अन्तर नहीं है। शुक्ल जी की प्रतिक्रिया छायावादी कवियों और समीक्षकों में यह हुई कि उन्होंने इस काव्य के अनुभूति पक्ष की गम्भीरता और विशिष्ट मूल्य-दृष्टि का भरसक प्रतिपादन किया, जबकि नई कविता ने अपनी प्रतिक्रिया शिल्प के महत्व-प्रतिपादन के माध्यम से व्यक्त की।

आनन्दवर्धन ने कहा था कि आंगिक सौन्दर्य के भीतर से जो लावण्य फूटता है, जो महज अंग सौष्ठव से परिभाषित नहीं किया जा सकता, वही 'ध्वनि' है। शरीर के भीतर से ही फूटती है कांति; अपरिभाषेय। वह शरीर से भिन्न नहीं है, शरीर के ही अंतर्बाह्य संयोजन का परिणाम है। जब अज्ञेय कहते हैं कि "शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं। पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।" तो असल में यह शाब्दिक अर्थों के परे ध्वन्यात्मक, व्यंग्य-अर्थ की ओर इशारा है।

परन्तु शब्दों को बेधकर शब्दातीत अर्थ पाना और अनुभव की आदिम जड़ों तक पहुँचकर, कविता के मौलिक संवेदन उपलब्ध करना हिन्दी समीक्षा के लिए एक कठिन कर्म इसलिए है कि अब भी उस पर रसवादी परम्परा का दबाव बना हुआ है, साथ ही लोक-मंगल की मूल्यवादी दृष्टि भी जुड़ी है। पिछले दिनों वैचारिक वामपंथ का भी उस पर गहरा असर हुआ है। शायद इसीलिए भाषा के प्रति पिछले तौर-तरीकों से एकदम हट जाना उसके लिए कठिन हो गया है। पश्चिम के प्रभाव से वह भाषा-पर बतियाते-बतियाते तुरन्त कवि के वर्ग-चरित्र, उसके लगावों, स्वार्थों आदि की सीमा में फाँद जाता है—इस तरह कि वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन लगभग असंभव हो जाता है।

सीधी में भाषा के अवमूल्यन पर १९७० में आयोजित बहस की समाप्ति नेमिचंद जैन के इस आरोप से हुई—"...का निर्णय दृष्टि पर आधारित है, भाषा की पड़ताल पर नहीं।" यह अंतिम वाक्य ही नहीं, उस बहस की परिणति का सूचक भी है। भाषा के अवमूल्यन की बहस वस्तुत: तत्कालीन विद्रोही कविता के संदर्भ में किसी 'ठंडे मुहावरे' की तलाश में हुई थी। फिर भी उसमें कुछ इस तरह के सवाल उठे कि "ठीक-ठीक व्यंजना किस प्रकार की (हो सकती) है? ... 'छद्म विद्रोह' को 'सच्चे विद्रोह' से अलग कैसे किया जा सकता

है? भाषा का दृष्टि के साथ संबंध क्या है? और रचना में, भाषा में दृष्टि किस प्रकार फलित होती है?" इन प्रश्नों के आश्वस्तकर उत्तर इस बहस में नहीं मिले--बहस में मिल भी नहीं सकते थे। लेखकों के मन में बड़ी द्विधा थी। भाषा से बात शुरू करते हुए वे कभी समाज पर तो कभी दृष्टि पर, कभी लेखक के व्यक्ति-चरित्र पर तो कभी वर्ग-चरित्र पर लपक जाते थे। ऐसा लगता था कि पश्चिमी काव्यालोचन के प्रभाव से वे भाषा पर बल तो दे रहे हैं, लेकिन सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और वैचारिक पूर्वग्रह उनसे छोड़ते नहीं बन रहे हैं। इसलिए किसी भी समीक्षा के लिए वैश्विक प्रतिश्रुति के बावजूद अपनी चिंता से भी जुड़े रहना भी आवश्यक होता है। अन्यथा एक ओर पारम्परिक प्रभावों से छूट कर और दूसरी ओर आयातित प्रभावों को अपनाने में असमर्थ होकर उस भाषा का समीक्षा-चिंतन त्रिशंकु की हालत में पहुँच जाता है। अपनी जमीन पर खड़े होकर वैश्विक प्रभावों को हवा और रश्मियों की तरह अपनी जीवन्त-चेतना का हिस्सा बनाना कहीं ज्यादा सही कदम है।

हिन्दी समीक्षा में अक्सर यह देखा जा रहा है कि कवि के विचार, धारणा और उससे आलोचक के रिश्ते कविता के पर्याय हो गये हैं। प्रिय कवि में से उद्धरण चुन-चुन कर या निहितार्थ से भी आगे के अर्थ निकाल कर उन्हें प्रतिष्ठित करना और अप्रिय कवि में से चुन-चुन कर दोष दिखाने के लिए उद्धरण एकत्र करना, कुछ समीक्षकों का स्वभाव-सा हो गया है। यह हिन्दी आलोचना का नैतिक संकट है और वस्तुनिष्ठ आलोचना के नाम पर रोमांटिक प्रवृत्ति का द्योतन है। 'निर्वैयक्तिक-तत्वाभिनिवेशिता' हिन्दी आलोचना की सबसे बड़ी जरूरत है। क्योंकि काव्य के भाषापरक मूल्यांकन का महत्व भले ही हर युग में थोड़ा-बहुत रहा हो, लेकिन आज काव्य के लिए वह अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतिमान है, क्योंकि इस वैज्ञानिक युग में तत्व मीमांसा की नहीं अर्थ मीमांसा की आवश्यकता है और जैसा डॉ० नामवर सिंह ने कहा है कि "यदि भाषा कवि के अनुभव और ज्ञान का साधन है तो कविता की भाषा का विश्लेषण करके उसके अनुभव की शक्ति को भी मापा जा सकता है।" अन्यत्र वे कहते हैं कि "काव्य-भाषा के स्तर पर सृजनशीलता बहुत-कुछ अन्वेषण का पर्याय है। किसी नए शब्द को खोजने का अर्थ ही है किसी नये अनुभव खंड अथवा वास्तविकता के नये पहलू की खोज।"

अब देखना यह है कि काव्य-भाषा को काव्य के मूल्यांकन का आधार बनाने से, मूल्यांकन के कौन-से मुद्दे उठ सकते हैं? मेरे ख्याल में ये निम्नांकित हैं:

(१) भाषा की जड़ों तक पहुँचकर संवेदन की सचाई का पता लगाना और असली काव्य को नकली काव्य से पृथक् करना।

(२) छंद, तुक, अलंकार जैसे भेदक तत्वों के बिना; भाषा के अंतर्हित काव्य-गुणों की खोज और पहचान।

(३) शब्द-प्रयोग, शब्द-संयोजन, शब्द-लय और शब्द-संकेत आदि के माध्यम से कवि के विचार, अभिप्राय, दायित्व-बोध, क्षमता और रचनात्मक विलक्षणता को बाह्याभासों के बिना भी पहचानना।

हम भाषा के माध्यम से यह सब कैसे जान सकते हैं? क्योंकि हम इसी स्तर पर हिन्दी समीक्षा को कमजोर पाते हैं। थोड़ी-बहुत कोशिशों के अतिरिक्त भाषा विषयक कोई स्पष्ट और गंभीर चिंतन हिन्दी में अब तक सामने नहीं आया है। सिर्फ प्रिय-अप्रिय रुचियों के उदाहरण भर पेश हुए हैं।

मैं समझता हूँ कि शब्द के द्वारा प्रेषित अनुभव और अनुभव द्वारा प्रेषित शब्द की 'परस्पर स्पर्धी' तुल्यता काव्यालोचन संबंधी अनेक समस्याओं का हल है। शब्द और अर्थ की 'परस्पर स्पर्धिता पर कुंतक ने बार-बार बल दिया है। अगर शब्द विवक्षित अर्थ की तुलना में दुर्बल या सबल है तो इसका अर्थ क्रमशः काव्यानुभूति की अपरिपक्वता और पाखंड, नकल, फैशनपरस्ती या दिखावा मात्र होगा। बोजाके के मत में भी अगर अर्थ अस्पष्ट या दुर्बोध है तो इसका यह अर्थ है कि उसे उपयुक्त भाषा ने स्वीकार नहीं किया है। शब्द के आयामों के साथ अर्थ के आयामों का विस्तार और संतुल्यता उनके काव्य के 'शब्द' और 'अर्थ' होने की अनिवार्यता है। 'काव्य' में शब्द और अर्थ के बीच अंतराल नहीं होता। क्योंकि विवक्षितार्थ जितना दूरगामी या गहरा होगा, उसे व्यक्त करने वाला शब्द भी उतना ही सक्षम होगा। प्रत्यंचा के तनाव और प्रक्षिप्त तीर की दूरगामी मार के बीच एक सापेक्ष संबंध है। अर्थात् अंतराल हमेशा अभिधार्थ और विवक्षितार्थ के बीच होगा। इस अंतराल के बढ़ने में शब्द और अर्थ दोनों कारण होंगे। यह अंतराल जितना बढ़ता जायगा, काव्य उतनी ही श्रेष्टता प्राप्त करता जाएगा। उदाहरण के लिए अगर 'महिमामंडित' भाषा की कोई भर्त्सना करता है तो उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह यह बताए कि क्या उसकी तुलना में अर्थ महिमावान् नहीं है? अगर अर्थ महिमावान् हो तो भाषा महिमामंडित होगी ही, अन्यथा वे शब्द भदेस कहे जाएंगे। यही बात 'विस्फोटक' शब्दों के बारे में भी कही जा सकती है।

एलन टेट जिसे काव्य का बहिर्मुख एवं अंतर्मुख अर्थ कहते हैं वह अभिधार्थ और विवक्षितार्थ है। उनका कहना है कि "इन दोनों के 'तनाव' में ही हम समग्र काव्य पाते हैं। जब हम काव्य-भाषा के अंतर्मुख अर्थ को पाते हैं, तब भी बाह्यार्थ पूरी तरह निरस्त नहीं होता। सच तो यह है कि हम बाह्यार्थ से शुरू करते हैं जो धीरे-धीरे लाक्षणिक जटिलता में विकसित होता रहता है, हर स्तर पर हमें अनुभव होता है कि बाह्य और अन्तर्अर्थ में एक खास किस्म का संदिग्ध अंतराल है"। स्पष्ट है कि यह अंतराल जितना ही बढ़ता है, काव्य की मूल्यवत्ता उतनी ही बढ़ती जाती है। दूसरे शब्दों में व्यंजनाशक्ति अभिधा से जितनी दूर होगी, कविता उतनी ही श्रेष्ठ होगी। परन्तु हिन्दी मे टेट की चर्चा करने वाले विद्वानों और उनके अनुकरण पर 'तनाव' की चर्चा करने वाले समीक्षकों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि टेट ने कहा है कि मैं यह शब्द न्यायशास्त्र (लाजिकल टर्म्स) से ले रहा हूँ;

न कि सामान्य लाक्षणिक अर्थ में इसका प्रयोग कर रहा हूँ। न्यायशास्त्र में तनाव उस प्रक्रिया को कहते हैं, जो अपनी निष्पत्ति तक नहीं पहुँचती। याने अभिधार्थ और विवक्षितार्थ के मध्य का तनाव निरंतर नई अवधारणाओं के लिए खुला रहता है। इससे काव्यार्थ के अधिकाधिक विस्तार की संभावनाएं बनी रहती हैं। जैसा कि राजशेखर ने कहा है--"निस्सीमार्थ सार्थः" (वह प्रतीयमान अर्थ निस्सीम है)।

टेट जहाँ शब्द और अर्थ के बीच एक संदिग्ध अंतराल (डिटरमिंड पाज) की बात करते हैं, और तनाव के सिलसिले में अर्थ के अपरिमेय संसार को खुला छोड़ते हैं, वहीं आई० ए० रिचर्ड्स काव्य के स्पष्ट और असंदिग्ध अर्थ की चर्चा करते हैं। कहना नहीं होगा कि टेट इस माने में अधिक प्रामाणिक हैं क्योंकि अर्थ द्वारा काव्य को समाप्त कर देना या उसकी सीमा बाँधना काव्य के मुकाबले में अर्थ को बड़ा बना देना है, जो निश्चय ही कविता की व्याख्या के हाथों पराजय है। एलन टेट ने स्पष्ट कहा है कि "कन्विनियंस आफ इल्यूसिडेशन इज नाट ए कैनन आफ क्रिटिसिज्म"। रिचर्ड्स कहते हैं कि "अनेकार्थी शब्द निर्भ्रान्त और निश्चित हो सकते हैं। परन्तु शब्दचयन के वैशिष्ट्य के कारण वे वैसे नहीं रह पाते। कारण कि तर्क दृष्टि से तो एकार्थता के अतिरिक्त उनकी अन्य अर्थ संभावनाएँ प्रतिबंधित कर देती हैं; जबकि काव्य में हमारी अभिरुचि को संयोजित करने वाले अनेक तत्व हैं, जैसे प्रासंगिक रंग, ध्वनि, स्वर, ताल, लय आदि। ये सब मिलकर शब्दार्थ की अपरिमेय संभावनाओं में से अभीष्ट, स्पष्ट एवं असंदिग्ध अर्थ का बोध कराते हैं।" काव्य और शास्त्र की अर्थोपलब्धि की विभिन्न प्रक्रियाओं पर रिचर्ड्स ने बड़ी सूझ-बूझ से विचार किया है, और उन आयामों की ओर इशारा किया है, जिनके माध्यम से हम काव्यार्थ पाते हैं। फिर भी निष्कर्ष रूप में वे अर्थ को व्यापक संभावनाओं को खुला नहीं छोड़ते।

आचार्य कुंतक ने काव्य-भाषा वैलक्षण्य की इतनी विस्तृत विवेचना की है कि उसमें वर्ण, पद, पदावयव, उपसर्ग, प्रत्यय, अलंकार, रीति, गुण, शब्द शक्ति, रस, विभिन्न विधाएँ सभी कुछ समाविष्ट हो गया है। उन्होंने एक तरह से यह सिद्ध कर दिया है कि भाषा की सिद्धि, कविता की सम्पूर्ण सिद्धि है। फिर भी उन्होंने वर्ण विन्यास वक्रता में जहाँ असंख्य संयोजनाओं की स्वतंत्रता मानी वहीं पद की अनंत वक्रताओं को भी स्वीकारा; नियम निर्धारण के बावजूद उन्होंने काव्य में निहित अनंत संभावनाओं को खुला छोड़ दिया। यही साहित्य विवेचन की 'वैज्ञानिक' दृष्टि हो सकती है। एलन टेट ने 'तनाव' की चर्चा करते हुए कहा कि यह लम्बी कविताओं के बारे में लागू नहीं हो सकता और यह कि ऐसा नहीं है कि कविता में 'एकमात्र' कसौटी तनाव हो; भाषा के और भी अनेक गुण हो सकते हैं।

लोक-प्रचलित रूढ़ भाषा हर युग में चमत्कार की सृष्टि के सामने चुनौती बन जाती है। इसलिए भाषा के 'स्वतंत्र प्रयोग' की आवश्यकता आचार्य कुंतक ने भी समझी थी; और अज्ञेय भी समझते हैं, अलबत्ता वे 'शब्दों को नया संसार', देने की बात करते हैं। इन नये संस्कारित शब्दों के माध्यम से नई कविता का मूल्यांकन आवश्यक है।

साही के अनुसार नई कविता को भाषा के दुहरे संकट से गुजरना पड़ा, पहला था 'परिपाटी ग्रस्त भाषा' और दूसरा 'बाजारू भाषा'—'इन दोनों खतरों से बचाकर' उसे जीवित भाषा बनाना था। संभवतः इसीलिए कवि को व्यक्तिगत भाषा का निर्माण करना पड़ा। आधुनिक कविता के सामने हर देश में कमोवेश ऐसी ही चुनौती रहती है। टेट ने अपने निबंध में सामान्य गीतकारों द्वारा प्रयुक्त गीतों की सामान्य भाषा और जनभाषा को जनानुभव द्वारा दूषित किये जाने पर नए कवियों की इस आवश्यकता का समर्थन किया कि वे सीमित और निजी भाषा का इस्तेमाल करें। जबकि हिन्दी में शास्त्राचार्य और आलोचकों ने निजी भाषा की तीव्र भर्त्सना की है। लेकिन मैं समझता हूँ कि कवियों की कठिनाइयाँ समझते हुए उनके भाषा-प्रयोग के प्रति टेट का दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त और संगत है। भाषा के अस्त्र को एक साथ संहार और सृजन दोनों करना होता है। हिंदी की नई कविता के भाषा-प्रयोग पर भी उसकी निजी समस्याओं के संदर्भ में विचार करना कविता को ठीक-ठीक समझने के लिए जरूरी होगा।

फिर भी भाषा-केन्द्रित मूल्यांकन की कुछ सीमाएं हैं :

(१) वस्तुगत मूल्यांकन की प्रतिज्ञा के बावजूद आलोचक का सर्वथा निर्वैयक्तिक होना प्रायः असंभव होता है।

(२) भाषा पर अतिवादी ढंग से केन्द्रित होना एक तरह से 'कला कला के लिए' सिद्धांत को पोसना है। क्योंकि—जैसा नामवर ने कहा है—कुछ आलोचक कथन के भाषागत विश्लेषण को ही समूची काव्यकृति का विश्लेषण समझने की भूल कर सकते हैं।"

(३) भाषा को जिन अनेक सामाजिक और पारिवेशिक और सांस्कृतिक समस्याओं ने जन्म दिया है, अगर भाषा केन्द्रित आलोचना उनकी ओर ध्यान नहीं देती, तो एक तरह से वह भाषा के साथ लिपटे संपूर्ण अर्थ संसार को निचोड़ नहीं सकती।

(४) कई बार भाषा के नवीन और चमत्कारिक प्रयोग से अनुभूति की सच्चाई, संगति और औचित्य पर ध्यान ही नहीं जाता।

इसलिए सर्जनात्मक भाषा, समीक्षा का आधार और अभिप्राय अवश्य है, वह सम्पूर्ण काव्यालोचन का पर्याय नहीं हो सकती। जैसा कि आर० पी० बेरमूर ने कहा है कि आज की बहुमुखी आवश्यकताओं को देखते हुए नए काव्यालोचन का भाषिकी पर इतना बल देना पर्याप्त नहीं है—

"For the multiform current needs, the linguistic emphasis of the new criticism is not enough".

Critic in America-p. 261.

८२।१०१ तुलसी नगर,
साउथ टी० टी० नगर,
भोपाल

विविधा

हरियाणी क्रियाएँ (धातुएँ)

⊙

डा० विष्णुदत्त भारद्वाज

आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश से हुआ है। इस तथ्य के विश्लेषण के लिए 'हरियाणा की सांस्कृतिक शब्दावली' पर प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने शोध प्रबन्ध लिखा था जिसे आगरा विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० उपाधि के लिए १९६६-६७ में स्वीकृत किया था। हरियाणी शब्दावली पर कार्य करते हुए, यह अनुभव किया गया कि हरियाणी धातुओं का विकास भी प्राचीन भारतीय भाषाओं से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी धातुएँ या क्रियाएँ हरियाणी भाषा में उपलब्ध हैं, जिनकी उत्पत्ति इस क्षेत्र की बोलचाल की भाषा से सम्बद्ध रही होगी। हरियाणी धातुएँ, जो संस्कृत धातुओं से विकसित हुई हैं, निम्नलिखित हैं :—कलकल (कल्ल, सं०), कूट (कुट्ट, सं०) कुणकुण (कुण्, सं०), खोल (क्षाल्, सं०), गल (गल्, सं०), गुंज (गुज्, सं०), गस (ग्रस्, सं०), घड़ (घट्ट, सं०), घोट (घुट, सं०), घुण (घुण, सं०), घूर (घुर, सं०), चटक (चट, सं०), चल (चल, सं०), चख (चष्, सं०), चेत (चित, सं०), चीत (चित्र, सं०), चोद (चुद्, सं०), चूम्ब (चुबि, सं०), चुर (चुर्, सं०), चूख (चूष, सं०), छिज (छजि, सं०), छेद (छिदिर, सं०), जाग (जागृ, सं०), जीत (जि, सं०), जुड़ (जुड, सं०), ढुक (ढौक्ट, सं०), ताड़ (तड़, सं०), तोल (तुल्, सं०), तिर. (तृ०, सं०), तोड़ (त्रुट्, सं०), डस (दंश्, सं०), दुह (दुह्, सं०), धुन (धुन्, सं०), पच (पचि, सं०), पढ़ (पठ्, सं०), पौंस, (पयस्, सं०), पाद (पर्द, सं०), पी (पी, सं०), पाल (पाल, सं०), पीस (पिश्, सं०), पेल (पेलृ, सं०), पूछ (पृच्छ्), फक्क (फक्क, सं०), फला (फला, सं०), बेल (बिल, सं०), भोंस (भुष्, सं०), माच (मचि, सं०), मांड (मंडि, सं०), मुतर (मत्रि, सं०), मंथ (मथि, सं०), मन (मन, सं०), माप (मा, सं०), मान (मा, सं०), मिल (मिल, सं०), मुंड (मुडि, सं०), मोस (मुस, सं०), मोह (मुह्, सं०), मूत (मूत्र), मांज (मृजु, सं०), मल (म्रद, सं०), रच (रच), रंग (रंग), रट (रट), रिस (रस), राँध (राध), ऊँग (रुङ), लग (लग), लंघ (लंघ), ला (ला), लुभ (लुभ्), लुण (लूञ्), बंट (बट), वरस (वर्ष), वरज (वृजी), सींठ (शिट), सूख (शुष्), सींज (सिंच), सह (षह), न्हा (स्ना), सूंत (सूत्र), सेक (सेक्ट), फुर (स्फुर), फूट (स्फुट), हाँक (हाक), गुंद (ग्रन्थ), नाथ (नाथृ), भुंद (मुञ्ज्), बांच (वच्), विचर (विचिर), डींग (डीङ), तज (त्यंज्), खोद (क्षुद्)।

कुछ हरियाणी धातुएँ ऐसी हैं जिनका विकसित रूप संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश धातुओं से हुआ है। प्रथम रूप हरियाणी धातु का, द्वितीय रूप अपभ्रंश का और तृतीय रूप संस्कृत का है। जैसे--मथ, मथ, मन्थ। चकरा, चक्क, चक्र। छोल, चच्छ, तक्ष्। जच, चज्ज, दृश ?। चढ़, चड, आरुह्। चल, चल्ल, चल्। चाव, चव, चर्ब। मंढ, मंड, मण्ड। चिण, चिण, चि। चूक, चुक्क, भ्रंश। चूम, चुंब, चुम्ब। फड़क, फडक, स्पन्द। छोड़, छड्ड, मुच्। छेत, छिन्द, छिद्। छू, छिव, स्पृश्। जाग, जग्ग, जागृ। जप, जंप, जप। जाम्भ, जंभा, जम्भृ। जर, जर, जृ। जना, जा, जन्। जिम, जिम, जिम। जोत, जुज्ज, युज्। जुज्झ, जुज्झ, युध्। जुप, जुप्प, युज्। झख, झंख, सं+तप्। झूर, झूर, स्मृ। झज्यात, झा, ध्यै। ठा, ठा, स्था। डर, डर, दर (त्रस्)। ढक, ढक्क, छद्। टंडवाल, ढंढोल, गवेष्। गंठ, गंठ, ग्रन्थ। गा, गा, गै। गुम, गुम्म, मुह्। घिस, घिस, ग्रस्। घूंट, घुट्ट, पा ?। घुल, घुल, घूर्ण। धुत्कार, धत्त, क्षिप्। खिज्ज, खिज्ज, खिद्। खौर, खउर, क्षुर्। काढ़, कड्ढ़, कर्ष। उगाल, ओग्गाल, रोमन्थ। उलबेढ़, उव्वेढ़, उत्, वेष्ट। रुज, उवरुच्झ, अवरुद्ध। उलाल, उल्लाल। उड, उड्ड, उड। ऊंघ, उंघ–। उकास, उक्कुस, अवकृष्। ताड, तड, तड्। काँब, कम्प, कम्प। उलत्थ, उल्लत्थ, उत्+क्षिप्। गुप, गुप, गोप्। नम, नम, नम्। निहार, निहार, दृश्। झर, णिज्झर, क्षि। रोप, णिरप्प, स्था। लहुक, ल्हुक, नि+ली। बिलस, णिल्लस, उत्+लस्। हेर, घेर, वेष्ट। निसर, णीसर, निः+सर्ग। नुला, णोल, णुल। तास, ताछ, तच्छ, तक्ष्। तोड़, तुट्ट, त्रुट्। तूठ, तूस, तुष्। ताना, ते अव, प्रदीप्। थक, थक्क, स्था। देख, दक्ख, दृश्। घर, घर, धृ। धाड, धड, निःसृ। धुन, धुण, धू। नाच, नच्च, नृत्। नस, नस्स, नश्। पड़, पड, पत्। पलोट, पलोट्ट, प्रत्यागम्। पार, पार, पार (शक्)। बड़बड़, बडबड विलप्। बूझ, बुज्झ, बुध्। भण, भण, भण्। भुंक, भुक्क, भुष्। मल, मड्ड, मृद्। मर, मर, मृ। बूड़, बुड्ड, गज्ज। बोल, बोल, कथ्। भण, भण, भण्। मर, मर, मृ। मुरझ, मुच्झ, मुह्। मेल, मेलव, मिश्र। रांप, रंप, तक्ष्। रुज, रुछ्ज्झ, रुध्। रुंध, रुंन्ध, रुध्। रूस, रूस, रुष्। लग, लग्ग, लग्। लीप, लिम्प, लिप्। बढ़, वड्ढ, वृध्। वर, वर, वृ। रोल, रोल, मन्थ। दल, दल, दल्। सबूर, विसूर, खिद्। झालना, झलना, बीज्। सहारा, सलह, श्लाघ्। चिमड़, लिपट, श्लिष्। साहर, साहर, संवृ। सिज, सिज्झ, सिध्। सीम, सिव्व, सिव्। सूड़, सूड, भञ्ज्। सोस या सूस, सूस, शुष्। सुंसा, सांस, श्वस्। हाँस, हस, हस। हो, हो अ, भू ओढ़, ओढ, उपविष्ट। उखाड़, उखाड, उत्+कृष्ट, बैठ, बैठ, उपविष्ट। पैठ, पेठ अ+विष्ट। फूंक, फूक, फूत्+कृ। पलट, पलट पर्यस्त।

हरियाणी भाषा की देशज धातुएँ (क्रियाएँ) निम्न प्रकार हैं:—नुनुआया—साधारण गर्म करना। तड़कना—घी में मसाला भूनना। ओजना—डालना। खिण्डना—फैलना। रिसना—धीरे-धीरे निकलकर बहना। चोभना—डबाना। बनारना—काटना। बुहारना,—झाड़ू लगाना। धापना—तृप्त होना। थूरना—भरना। रिताना—खाली करना। पौना—बनाना। खुरड़ना—कुचरना। गिटना—उतारना। राहना—कूटना। अड़ूसना—दबाना। डिगना—हटना। सिंगरना—सजना। दड़ मारना—बहाना बनाना। चिहम्लाणा—बकना।

फिंगरना—मांगना । फलारना—चढ़ना। गोना—छुपाना। सुबकाना—ठंड लगना। थिसलना—फिसना। घोखना—रटना। चासना—जलाना। झांगटना—पीटना। पासना—डालना। भण्डना—बुरा कहना। बिसमना—टूटना। टोरना—भेजना। भिटना—ऋतुमति होना। सारना—पूरा करना। संवारना—काटना। थुत्थकारना—थूकना। टोकना—रोकना। बड़ना—घुसना। मून्दना—बन्द करना। उंझारना—एकत्र करना। रोलना—हिलाना। पहलोना—मिलाना। रिड़कना—बिलौना। चुगना—एकत्र करना। भानना—मिलाना। गाडना—दबाना। हेरना—रोकना। गुबरना—दबाना। रगना—न होना। बलना—जलना। नीरना—डालना। पासना—डालना। चूंडना—काटना। गाहना—दबाना। खंगेरना—झाड़ना। सासना—मसलना। न्यांगलना—जोड़ना। तिड़कना—चमकना। गच्छना—बाँधना। मुकरना—इन्कार करना। सुसताना—आराम करना। धिणयाना—गर्भवती होना। सुअना—पैदा करना। चीतना—दबाना। पींघना—झूलना। फलना—पड़ना। कुड़ना—झुकना। गंठना—बनना। टाडना—बोलना। घुलना—लड़ना।

प्रस्तुत विनम्र प्रयास से प्रेरणा प्राप्त कर आधुनिक भाषाविदों को अपनी-अपनी भाषा की धातुओं का अध्ययन प्रस्तुत कर प्राचीन एवं आधुनिक भाषाओं के सम्बन्ध को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे भाषा-जगत में समृद्ध परम्परा प्रकाश में आ सके।

२९/ १४ शक्ति नगर, दिल्ली-७

विद्या विलास सभा

⊙

डा० गंगादत्त 'विनोद'

महाराज रणवीर सिंह द्वारा साहित्य की अभिवृद्धि के उपलक्ष्य में किये गये बड़े कार्यों में "विद्या विलास सभा" की स्थापना भी एक महान् कार्य है, जो उस युग में साहित्यिक विद्वानों का एक मंच था, जिसे महाराजा का पूर्ण अभिभावकत्व भी मिला था—यहाँ तक कि इस सभा का कार्यालय राज-प्रासाद में था। इसकी साप्ताहिक गोष्ठियाँ भी उसी स्थान पर सम्पन्न होती थीं। बड़ी विशेषता यह थी कि राज-सम्बन्धित होने के कारण सारे राजाश्रित विद्वानों की वहाँ उपस्थिति अनिवार्य थी। जो राजाश्रित नहीं थे वे भी राज-भवन की गरिमा से आकृष्ट होकर वहाँ पहुँचते थे अथवा पहुँचने के प्रयास करते थे। इस सभा की कार्रवाई का माध्यम मुख्य रूप में संस्कृत और गौण रूप में हिन्दी तथा डोगरी था। चूँकि सभा संस्कृत विद्वानों की थी इस कारण बहुमतीय माध्यम संस्कृत भाषा ही थी। यह सभा न केवल जम्मू-कश्मीर के संस्कृत विद्वानों का राजनिर्मित मंच ही था अपितु राज्य के बाहर होने वाली हिन्दी-संस्कृत की गति-विधियों का भी, किसी रूप में, नियामक था। इसकी साप्ताहिक गोष्ठी महाराजा के मुबारिक मण्डी के महल में होती थी। प्रति मंगलवार को यह आयोजन जम्मू की जनता का एक भारी आकर्षण-केन्द्र बन गया था।

इस सभा की गोष्ठी में मुख्य रूप से तीन प्रकार के कार्यक्रम चलते थे। भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे गये पत्र, मौखिक शास्त्रार्थ तथा प्रशासन सम्बन्धी वैधानिक विषयों पर शास्त्रसम्मत विचार-विमर्श।

पत्र-पठन के अनन्तर प्रश्न होते थे और प्रश्नों के बीच ही शास्त्रार्थ आरम्भ हो जाने पर कभी विद्वानों की परस्पर नोंक-झोंक भी हो जाती थी। एक-एक शास्त्रार्थ, जो पत्र-पठन द्वारा उत्पन्न होता था, कई गोष्ठियों तक चलता रहता। इन राजाश्रित विद्वानों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम भाग में वे आते हैं, जिनका मुख्य व्यवसाय कर्मकाण्ड था, किन्तु थे वे सुबोध विद्वान। इसी कारण शास्त्रार्थी पण्डित-मण्डली में भी इनकी उपस्थिति और योगदान चलता रहता। इनमें मुख्य थे:—काना, सोनु-यजुर्वेदी। हीरानन्द, भीमसेन, शंभु—सामवेदी। लहणु, लक्ष्मण, लक्ष्मी दयाल—ऋग्वेदी। यजुर्वेदी विद्वानों की सूची उपलब्ध नहीं हो पाई। संभवतः ये उपर्युक्त महानुभाव यजुर्वेद सम्बन्धी कार्यों को भी चला लेते होंगे।

जो शास्त्रीय विद्वान् राजाश्रित होकर 'विद्या विलास सभा' के कार्यकर्त्ता थे उनकी मुख्य सूची इस प्रकार है—वृन्दावन, मधुसूदन, घसीटू, कृष्णोदय, पद्मनाभ, निहाल चन्द, महाराष्ट्र, बलदेव, नत्थूराम, आसाराम, देवीनन्दन, ब्रज लाल, नीरंजन, सूर्यराम, हर विलास, दयाराम, ज्वाला प्रसाद, जिया राम, जगधर, गोविन्दाचार्य इत्यादि।

तीसरी श्रेणी के वे विद्वान थे जो महाराज के आदेश पर संस्कृत ग्रन्थों का निर्माण करते थे। उनमें प्रसिद्ध इन लेखकों के नाम उपलब्ध होते हैं:—निधि पति, नीलकण्ठ, गंगाराम, वेंकर शास्त्री, मल्लीनाथ, चण्डीदास, गणेश पण्डित, महेश, हरिश्चन्द्र शास्त्री, रघुनाथ, साहिब राम इत्यादि।

सभा की साप्ताहिक गोष्ठियों के प्रति मंगलवार को होने का प्रमाण कवि चण्डीदास के एक व्यक्तिगत पत्र से ज्ञात होता है, जिसकी एक पंक्ति इस प्रकार है—"और इहां मंगलवार के मंगलवार सभा होवै है।"

यह पत्र सं० १९२४ में लिखा गया था। 'विद्या विलास सभा' विद्वानों की परम प्रिय थी जिसकी प्रशंसा में वेंकट शास्त्री का एक पद्य उपलब्ध हुआ है:—

"उदारा सुद्वारा सुकृति परिवारा सुखकरा
सुसारा सल्लेखा कविकृत विशेषा सगुहका
हरीन्द्रा सद् वृन्दारक कुल कृताख्यात्र सुबुधा
सुधर्मा साधर्म्यं समयति सभा सम्प्रतिमियम्।"

पूर्व कथन के अनुसार सभा के कार्यक्रम का प्रथम अंश पत्र-पठन था। जो भी पत्र पढ़ा जाता था उसे 'विद्या विलास पत्रिका' कहा जाता था। कार्यक्रमों में पढ़ी गई ऐसी सैकड़ों पत्रिकाएँ इकट्ठी हो गई होंगी, किन्तु उनकी सुरक्षा न हो सकने के कारण वे सब लुप्तप्राय हैं। अब मेरी खोज द्वारा उनमें से कुछ पत्रिकाएँ, जो उन्हीं विद्वानों के हाथों लिखी हुई हैं, मेरे पास सुरक्षित हैं। उनका यत्किंचित् परिचय दे देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

१. पं० हरिश्चन्द्र शास्त्री ने एक पत्र पढ़ा, जिसमें सभासदों से तीन प्रश्न पूछे गए—

कार्य, कार्य यह जो कहा जाता है यह सावस्थक है या निरावस्थक ? निरावस्थक है तो अवस्था विशेष का क्या लक्षण है ? विद्वानों को सोच-समझ कर उत्तर देना चाहिए। दूसरा प्रश्न है—स कीचकै मारुत पूर्ण रन्ध्रैः, रघुवंश के इस श्लोक में "कीचकाः वेणवः ते स्वनन्ति अनिलोद्घातात्" इस अमरकोष के वाक्य द्वारा कीचकों का स्वनन स्वतः सिद्ध है फिर, मारुत पूर्ण रन्ध्रैः, यह क्यों कहा गया ? इसका भी उत्तर विद्वानों को देना चाहिए। तीसरा प्रश्न है—"हरत्यधं सम्प्रति हेतुरेष्यतः" माघ के इस वाक्य में वर्तमान क्रिया द्वारा ही वर्तमान काल प्रतीत हो जाता है फिर सम्प्रति शब्द क्यों बीच में रखा गया ? सभासदगण इसका भी उत्तर दें।

किसी विषय पर पत्र पढ़ने के अनन्तर इस शैली के प्रश्न भी वहाँ पूछे जाते थे।

२. दूसरी 'वाग् विलास पत्रिका' पं० गंगाराम द्वारा पढ़ी गई थी, जिसमें मम्मट के दस गुणों का माधुर्य, ओज, प्रसाद इन तीन गुणों में अन्तर्भाव सिद्ध किया गया। भाषा अत्यन्त प्रौढ़ एवं शास्त्रार्थ के ढंग की है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'विद्या विलास' की कार्यवाही का माध्यम संस्कृत थी। प्रस्तुत पत्र संस्कृत में लिखे हुए हैं।

३. तीसरी 'वाग् विलास पत्रिका' कवि चण्डीदास द्वारा पढ़ी गई थी। विषय वेदान्त का अध्यात्मवाद था। इस पत्र की समाप्ति पर पं० गोविन्दाचार्य ने कोई प्रश्न उपस्थित किया। इसका उत्तर पत्र-पाठक को देना था किन्तु बीच में ही पं० हरिश्चन्द्र शास्त्री ने खड़े होकर उत्तर दे दिया। फिर भी कवि चण्डीदास इस पर कुछ कहने का लोभ संवरण नहीं कर पाए और इन शब्दों में बोल पड़े, 'परे ब्रह्मणि तादात्म्याध्यासोऽस्य जगतः कथम् ? इति पृष्टो यथा शुक्तौ रजतस्येत्युत्तरं कवेः।' एक मंगलवार की सभा के कार्यक्रम के पूर्व आगत विद्वानों का मन्त्री महोदय द्वारा इन शब्दों से स्वागत किया गया—सभ्य विद्वद्वरेभ्यो नमः। शायद ऐसे अभिनन्दन की परम्परा प्रत्येक गोष्ठी के प्रारम्भ में चलती हो। इस अभिनन्दन के पश्चात् पत्र पढ़ा जाने लगा। उस पत्र (पेपर) के प्रारम्भ में पूर्व-कथित श्लोक में उदारा, सुद्वारा इत्यादि से विद्या विलास सभा की रूप-रचना और उद्देश्य प्रकट किया गया। इसमें श्लेषालंकार तथा काव्य सम्बन्धी गुणों पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया। पत्र अधिक लम्बा है, जिसका लेख भी सुपाठ्य नहीं। पत्र (पेपर) पढ़ने वाले विद्वान का नाम कहीं लिखा हुआ नहीं मिला। इस पत्र के अन्त में 'विद्या विलास सभा' को 'भूप विलास सभा' कहा गया है, जिससे सभा का राजचालित होना ध्वनित होता है।

४. चौथी 'विलास पत्रिका' में वर्णों की व्यंजकता पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किया गया है, किन्तु इस पर किए गए प्रश्नों का उल्लेख नहीं मिला। इस पत्र में वर्णों का रहस्य खोजपूर्ण रीति से लिखा गया है, जिसके लिखने में राजाज्ञा थी, इस सम्बन्ध में लेखक के ये शब्द ही प्रमाण हैं—अत्र मया श्री महाराजाधिराज जम्बू कश्मीराधिपति श्री रणवीर सिंह वर्म प्रभुवर्याज्ञया वर्णमात्रैक योजना करिष्यते नतु भ्रान्त्या विद्वद्भिरवधेयम्।

शास्त्रसिद्धांमनुसृत्य वर्णमात्रैक योजना।
परेषां लिपि वर्णानां द्वित्व ज्ञानाय लिख्यते॥

इस पत्र में द्वित्व प्रकार की नई पद्धति आविष्कृत करते हुए लेखक ने फारसी लिपि

में द्वित्व प्रकार प्रक्रिया को खण्डित किया है। इस सम्बन्ध में यह भी लिख दिया कि इस पर अधिक जानने की इच्छा से मेरी "वाक्तत्व विवेकं" पुस्तक पढ़ी जाए। इस पुस्तक का अभी तक पता नहीं चला है। पत्र का थोड़ा सा विषय-संकेत इस प्रकार है—द्वितीय वर्ग के अक्षरों से प्राणादि पंचवायु उत्पन्न हुई। मध्य वर्णो से अन्तःकरण की वृत्तियाँ तथा क, प इन दो वर्णो से प्रकृति पुरुष पैदा हुए। . . .

५. पाँचवीं 'विद्या विलास पत्रिका' में बौद्धों के क्षणिक वाद आरम्भवाद और परिणामवाद का खण्डन करके जगत् को मायामय सिद्ध करते हुए श्रुति प्रमाणों द्वारा, आत्माभास द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। इस पत्र के लेखक का इसमें नाम नहीं मिलता। पत्र के पृष्ठ भाग में चौदह वाम गति लिपियों के नाम गिनाए गए हैं। वे लिपियाँ इस प्रकार हैं—देवनागरी, शारदा, डुग्गर, पर्वती, गुरमुखी, कैथी, नेपाली, मैथिल, बंगला, उड़िया, तैलंग, द्राविड़ और मोड़ी। इससे पता चलता है कि प्रस्तुत सभा में लिपि-विज्ञान के सम्वन्ध में भी चिन्तन किया जाता था।

६. छठी 'विद्या विलास पत्रिका' में महाराज के प्रश्न का उत्तर दिया गया है, जिसमें चेतन प्रयुक्त अचेतन की कार्यनिष्ठता पर प्रकाश डाला गया है। वर्णनशैली न्यायशास्त्र के अनुसार है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—"समवाय सम्बन्धावच्छिन्न क्रियात्वावच्छिन्ना क्रियानिष्ट जन्यता निरूपित कृति निष्टा जनकता किंचिद्धवर्मच्छिन्ना कारणत्वात् पटनिष्ठ कार्यता निरूपित तंतु निष्ठा कारतावत्।"

७. सातवीं पत्रिका में माधुर्य आदि काव्य गुणों की रस व्यंजकता सिद्ध की गई है।

८. आठवीं पत्रिका में मम्मटोक्त दस गुणों का खण्डन करते हुए उन्हें तीन गुणों में अन्तर्भूत किया गया है। इस पर गोविन्दचारी ने कोई प्रश्न किया। उसका श्लोकबद्ध उत्तर देते हुए लेखक ने साथ में यह भी कह दिया—यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर हरिश्चन्द्र शास्त्री ने दे दिया है तथापि मैं श्लोकबद्ध देना चाहता हूँ। इस पत्र के लेखक आशुकवि चण्डीदास थे। प्रति लेख में अपना नाम निर्देश कर देना इनकी विशेषता है। ऐसा अन्य लेखक नहीं करते थे।

इस विषय पर चार-पाँच पत्र मिले हैं किन्तु विस्तारभय के कारण यहाँ सबका विवरण नहीं दिया जा रहा है।

९. सभा की नवमी पत्रिका में एक श्लोक पर वाद-विवाद खड़ा हो गया, जिसमें कवि मल्लीनाथ, वैंकट राम शास्त्री, गोविन्दाचारी, रघुनाथ, कवि चण्डीदास तथा साहिब राम ने भाग लिया। श्लोक इस प्रकार है—

काचित् कान्ता रमण वसति प्रेषयन्ती स्व पत्रम्
चेटी हस्ते सभयमलिखद् व्यालमस्योपरिष्टात्।
गौरीनाथं पवनतनयं चंपकं चात्र भावं
पृच्छत्यार्यात सदसि विदुषां मल्लिनाथः कवीन्द्रः॥

कोई कान्ता चेटी के हाथ प्रेमी को पत्र भेजती हुई उसके हाथ के उपरि भाग पर साँप लिख बैठी। फिर शिव, हनुमान और चंपक फूल भी उसी हाथ पर उसने लिख दिया।

पत्र-पाठक मल्लिनाथ कवीन्द्र सभा में उपस्थित विद्वानों से इस श्लोक का आशय पूछता है।

१०. दसवीं पत्रिका किसी सुखराम पण्डित द्वारा पढ़ी गई थी। उसमें व्यक्तिगत विवादात्मक विषय की भूमिका देकर आगे व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न पूछा गया है। पत्र (पेपर) को आद्योपान्त पढ़ने से प्रतीत होता है कि कवि चण्डीदास राजकुमार प्रताप सिंह के अध्यापक तथा 'विद्या विलास सभा' के संयोजक थे इसलिए दरबार में उनका विशेष सम्मान था। पं० सुखराम से किसी मामले में उनकी नोंकझोंक हो गई जिससे सुखराम के दरवार में आने पर रोक लग गई। निष्कासित विद्वान ने युवराज प्रताप सिंह से साक्षात्कार करके अपनी स्थिति स्पष्ट की। राजकुमार ने राय दी कि एक पत्र (पेपर) लिख कर विद्या विलास में पढ़ना चाहिए। अब जब ऊपर से आज्ञा हुई तो लेखक को पत्र (पेपर) पढ़ने का अधिकार था। इस पत्र में कवि चण्डीदास पर आक्षेप करते हुए लेखक ने भूमिका में लिखा—"आप महाराज के अधिक अन्तरंग हैं; युवराज के अध्यापक हैं। विद्या, राज-वैभव और अधिकार पाकर आपने मुझ गरीब को राज दरबार से निष्कासित करवाया। अब आप से मैं एक प्रश्न पूछता हूँ, उसका उत्तर यहीं देना होगा। प्रस्तुत पत्र (पेपर) की पाण्डुलिपि में उस व्याकरण सम्बन्धी लम्बे प्रश्न का विवरण है।

११. ग्यारहवीं पत्रिका में 'विद्या विलास सभा' के अन्तर्गत एक पत्र ऐसा पढ़ा गया, जिसने केवल विचित्र प्रश्नों की झड़ी सी लगा दी। ये सब प्रश्न किसी कवि को सम्बोधित करके पूछे गए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि लेखक ने सभा का आश्रय लेकर व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धा से प्रेरित मानसिक प्रतिक्रिया व्यक्ति विशेष के प्रति प्रकट की थी। शार्दूल विक्रीडित छन्दों की संस्कृत कविता में विबद्ध किये हुए हैं—जैसे, रमा का पति कौन है? बलरिपु किसे कहते हैं? अग्नि का वीर्य कौन है? राम ने लंका में किन-किन का वध किया था? कमल कहाँ से पैदा हुआ? सूर्य की हजार किरणों के नाम बताओ? चन्द्रमा की स्त्री कौन है? धरती के वस्त्र कौन हैं? हवा का घोड़ा कौन है? शनि कहाँ से पैदा हुआ? ब्रह्मा कहाँ से पैदा हुआ? हरि किसका प्रियतम है? रात में कौन चमकती है? नदियों की कान्ताएँ कौन हैं? लक्ष्मी कहाँ से पैदा हुई? सूर्य की पुत्री कौन है? यम और यमुना का पिता कौन है? मेरे इन प्रथम वर्णों से रचित प्रश्नों का, हे कवि उत्तर दो। प्रश्नकर्त्ता का नाम नहीं दिया गया है। प्रश्नों के सामने उत्तरों की तालिका एक-एक संज्ञा के रूप में रखी गई है, जो पूर्ण नहीं है। जैसे—रमा के स्वामी श्रीधर, जन्हु की कन्या गंगा, अग्नि का वीर्य हाटक (सोना), लंका में राक्षसों को मारा, कमल जल से पैदा हुआ।

तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव

'विद्या विलास सभा' में कुछ रचनाएँ ऐसी भी पढ़ी जाती थीं जिनका निकट सम्बन्ध व्यावहारिक क्षेत्र से रहता था। इस सम्बन्ध के कुछ दस्तावेज उन्हीं विद्वानों के हाथों लिखे हुए मिले हैं, जिनका सम्बन्ध साहित्य के साथ भी जुड़ा हुआ है। उनमें से कुछ पत्रों का विवरण इस प्रकार है:—

१. काकड़ा नामक नगर के निवासी कवि गंगाराम द्वारा रचित कुछ श्लोक सभा में आए, जिनकी व्याख्या करनी थी। श्लोक अधिक कठिन एवं दुरूह होने के कारण व्याख्या के लिये विद्वत्ता की कसौटी समझे गए। उनमें से एक श्लोक इस प्रकार है :—

कृतया विषया नतयन्ति मिदा
भवया विषयान्त भवातुकया
गगया नियमा दिगयाख्य भुजा
रमया विययान्त रयादिकया

महाकवि चण्डीदास ने इन श्लोकों की व्याख्या लिख कर सभा की ओर से कवि गंगाराम को भेज दी।

२. सम्वत् १९१८ के एक पत्र में महाराज रणवीर सिंह की पुत्री के विवाह में की गई दीपमाला आदि रूपसज्जा पर लिखे गए कुछ श्लोकों में सुन्दर कला बिखरी है जैसे:—

वासांस्याभारणोत्तमनित ददतीत्यंभेऽस्ति किं लज्जित:
ज्योतिंषि स्वयमिंदुनाथ रविणा संसाधयन्तोऽप्यलम्।
पश्यन्तोऽपि तव प्रताप यशसां प्रत्युक्तवे केऽपिते
दीपाली सहसां यदाश्रयमदे ज्योतिर्विदो विस्मयो
मिथ्यैव प्रवदन्ति तेन नमसा शून्यां यदा सद्भियः॥

३. तीसरे पत्र में सूरत सिह, जोरावर सिंह, किशोर सिंह, गुलाब सिंह तथा रणवीर सिंह तक की वंशावली का प्रशस्ति गान है। म० रणवीर सिंह की प्रशस्ति में लिखा है—महाराज की साहित्यिक गति-विधियाँ बेजोड़ हैं। उसने जम्मू को काशी बना दिया और वेंकट शास्त्री जैसे विद्वान उसकी सभा में हैं। शास्त्रपारंगत विद्वानों को उसने आश्रय दिया हुआ है।

४. चतुर्थ पत्र में महाराज रणवीर सिंह की बड़े लाट से मुलाकात करने का संक्षिप्त वृत्तान्त है। यह मुलाकात सयालकोट में हुई थी, यह भी लिखा है। पत्र पर सम्वत् १९२७ (१९७०) लिखा है। इसके साथ उधमपुर तथा हप्ताल के मन्दिरों की प्रतिष्ठा का भी सम्वाद लिखा है, जो इन्हीं दिनों सम्पन्न हुई थी।

७. सातवीं पत्रिका राजनैतिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें महाराजा गुलाब सिंह की वीरता का वर्णन करते हुए लेखक ने श्लोकबद्ध भाषा में उन बड़े-बड़े क्षेत्रों के नाम गिनाए हैं, जिन पर गुलाब सिंह ने महाराजा रणजीत सिंह की सेना का नेतृत्व करते हुए विजय पाई थी। श्लोक इस प्रकार है :—

देशा रुस वनायु पारस महाचीनार्व-चीनादिका। गान्धारादि तुरुष्कपूर्व विषया ये यावनीया परे। रुमाधश्च पिसौर कावल मुरवा ये यारकन्दादयो यस्मिन्नप्वमुयागते सपतयो विभ्युर्नरेशाश्रयाः॥

अर्थ इस प्रकार है—रूस, अफगानिस्तान, फारस, महाचीन, अरबचीन आदि, गान्धार, तुरुष्क, रोम, पिशावर, यारकन्द आदि देश जिसे घोड़े पर सवार होकर आए हुए देखकर अपनी सेनाओं और राजाओं के साथ भयभीत हो उठते थे, ऐसे हैं म० गुलाब सिंह।

पुनः दूसरे श्लोक में गुलाब सिंह की प्रचण्ड वीरता का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

यं सन्नद्धमभीकमुद्यतमहा संङ्गं विलोक्याग्रतो
दत्वा पृष्टमुपाद्रवन् महदपि म्लेच्छाधिराजोवलम्।
उक्तं येन पिसौर खैवर रणे किंचेति यत् कावलम्
मद्रो येन वभूव गौरवमयः वक्षं शतद्रोरलम्।

पत्र के पृष्ठ भाग में म० रणवीर सिंह की स्तुति की गई है, जिसमें लिखा है कि उनका विद्या-प्रेम अभूतपूर्व है। सौराष्ट्र, द्राविड़, आंध्र, गुर्जर, गया, काशी, कुरुक्षेत्र आदि प्रदेशों से मूर्धन्य विद्वानों को बुलाकर उन्होंने अपने आश्रय में रखा हुआ है। एक बार उन्होंने हुक्म निकाल दिया कि उनके राज्य में कोई अपठित तथा असंस्कृत न रहे। उन्होंने चारों वेदों के विद्वान काशी से बुलाकर रखे। इसी प्रकार, अन्य विषयों के विद्वान भी भारत के अनेक प्रान्तों से बुला कर अपने दरबार में रखे हुए हैं। निवास, भोजन आदि सब की सुचारु व्यवस्था की हुई है। सम्बन्धित एक श्लोक इस प्रकार है :—

नासंस्कृतः कोऽपि मदीय राष्ट्रे
भवेत् त्रिवर्णोष्विति भूरि दत्वा
धनं चतुर्वेद विदोऽपि विप्राः
काशी पुरो येन सतापहूताः॥

किन्तु इसी के साथ दूसरे श्लोक में राजा को परिषद्, राजसभा में कैसे व्यवहार करना चाहिए, स्पष्ट किया गया है। उसका भाव इस प्रकार है कि अपने अधीन विद्वान्, गुणवान् व्यक्तियों को आदर देकर उन्हें उचित पदीय सम्मान देना भी राजा का कर्तव्य है। राजा को सभा में वसन्त की भाँति प्रफुल्लित और सुशीतल होकर बैठना चाहिए। 'विद्या विलास सभा' के एक विद्वान द्वारा म० रणवीर सिंह की पोषित चम्पावती नामक हाथिनी पर एक प्रशस्तिमय लघुकाव्य सभा में पढ़ा गया, जिसका सुन्दर वर्णन लिए हुए एक श्लोक इस प्रकार है—'अद्य श्री रणवीर सिंह नृपतेर्नव्या सुमव्यांचिता।' उस हस्तिनी को ऐसे सिखाया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति के बुलाने पर उसके पास आ जाती थी। वह चपलनयना और नर्तिका जैसी थी। चुलबुली और नटखट वह सभासदों का मन मोह लेती थी।

सन् १८३४ में जोरावर सिंह की लद्दाख तथा तिब्बत के कुछ प्रदेश पर विजय प्राप्ति की धूम थी। 'विद्या विलास सभा' में इस विजय पर अनेक प्रशस्तियाँ पढ़ी गईं। एक प्रशस्ति का श्लोक इस प्रकार है :—

समानं सन्मान प्रदमधिवलं विश्व विदितम्।
कवीनामानन्दप्रथनरुचिमुदगीथ यशसम्।
महोदारं शूरं निजपति पर प्रेम विलयम्
रमा श्रीमज्जोरावर रुचिववर्य समवतात्॥

इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है :—

जिसको सर्वत्र सन्मानपूर्वक आदर दिया जाता है, जिसने इस धरती को सन्मान दिया है, जो

विश्वविख्यात कवियों का आनन्दवर्धक, प्रख्यात, यशस्वी, महान्, उदार, शूर तथा अपने स्वामी का प्रेमपात्र है, इस प्रकार के सचिव श्री जोरावर सिंह की रक्षा राजलक्ष्मी करे।

'विद्या विलास सभा' के एक पत्र से प्रतीत है कि 'रणवीर दण्डविधान' नामक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना चार विद्वानों ने मिलकर की थी, जिनके नाम इस प्रकार हैं—श्री गणेश पण्डित, श्री वेंकट शास्त्री, श्री गोविन्दाचार्य तथा कवि चण्डीदास। इस सम्बन्ध में प्रमाणस्वरूप उस पत्रिका का निम्नलिखित पद्य पर्याप्त होगा :—

"श्रीगणेशोऽपरो वेंकटादि सुशास्त्री सुगोविन्द दासोऽपरोऽपि।
कविर्नव्य चण्डी सहायस्तदुक्तो निशम्योद् गिरं तां तथापादयन्ति ॥"

'विद्या विलास सभा' की ये गतिविधियाँ इस प्रकार अनेक रूपों में चलती थीं। इनका मुख्य आधार तो संस्कृत क्षेत्र था किन्तु तत्कालीन दरबारीय छटा, देश-काल, वातावरण एवं राजनैतिक-सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्बन भी साथ-साथ चलता था। राज-चालित होने के कारण जनता के साथ इसका निकट सम्बन्ध था। यदि यों कहा जाय कि यह भी एक प्रशासन क्षेत्र का अंग था तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि प्रशासन-व्यवस्था के कुछ पहलू जो भारत की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, कानून एवं धर्म से सम्बन्धित थे, उनका निर्णय इसी की विद्वन्मण्डली के हाथ में था। 'विद्या विलास सभा' एक ऐसी विचित्र साहित्यिक संस्था थी जो पूर्णरूप से संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का प्रतिनिधित्व करती हुई भी सामान्य सामाजिक क्षेत्र से भी जुड़ी हुई थी। आज से कुछ वर्ष पहले इस सभा के बारे में किसी को कुछ ज्ञान था, ऐसा मुझे मालूम नहीं। सर्वप्रथम महाकवि चण्डीदास पर अनुसन्धान के प्रसंग में उपलब्ध हस्तलेखों द्वारा जहाँ मेरे अनुसन्धेय विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा, वहाँ साथ ही 'विद्या विलास सभा' जैसी उस समय की सं० प्रतिनिधि सभा के अस्तित्व की भी प्रथम बार उपलब्धि हुई, जिस पर मैं विस्तार से कुछ लिखना चाहता था। अभी-अभी श्री वी० पी० शर्मा ने इस सभा को अपने किसी लेख में संकेतित किया है। किन्तु सभा क्या थी, किस कार्यक्रम को लेकर चलती थी, कौन से विद्वान थे, उसकी गोष्ठियाँ कब, कैसे और किस कार्यक्रम को लेकर चलती थीं इत्यादि के बारे में, मैं समझता हूँ, उनके पास शायद अभी अधिक सामग्री नहीं है। म० रणवीर सिंह द्वारा संस्कृत विद्या को योगदान की गाथाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं और उस योगदान का साहित्य भी आज हमारे सामने है, किन्तु इन सब गतिविधियों का केन्द्र यह सभा थी, इसका, मेरी खोज के पहले, किसी को शायद पता न था, यह बात मैं निस्संकोच कह सकता हूँ। इस खोज द्वारा म० रणवीर सिंह के युग से सम्बन्धित अनेक नए तथ्यों का उद्घाटन हुआ है, इतिहासकारों को आज नहीं तो कल अवश्य मानना पड़ेगा। इस सभा से सम्बन्धित उस युग के दस्तावेज मेरे पास इतनी मात्रा में पड़े हैं, जिनको लेकर एक पुस्तक लिखी जा सकती है। प्रस्तुत पत्र इस दिशा में अभी केवल विहंगम दृश्य मात्र है, जो अधिक संक्षिप्त है।

—२३, मुहल्ला पहाड़ियाँ,
जम्मू तवी, जम्मू (कश्मीर)

क्या घनानन्द की प्रेयसी का नाम सुजान था ?

⊙

डॉ० मोहन अवस्थी

घनानन्द और सुजान की प्रेम-कथा बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु चिन्त्य यह है कि जहाँ भी इस कथा का उल्लेख हुआ है, वहाँ वह किंवदन्ती के ही आश्रित हैं, किसी भी विद्वान् ने अभी तक कोई ऐसा प्रमाण पेश नहीं किया है जिससे सिद्ध हो जाय कि 'सुजान' घनानन्द की प्रेयसी का वास्तविक नाम था। 'घनानन्द कवित्त' के आधार पर अनुसंधान करने से प्रतीत होता है कि कवि ने 'सुजान' शब्द का बीसों बार परम्परिक प्रयोग जानकार या 'सज्ञान' अर्थ में किया है। इस अर्थ में 'सुजान' शब्द व्यक्ति का ही नहीं, नेत्रों का भी विशेषण है—

पिय के मुख कौतुक देखि सखी
निज नैन विशेष सुजान छकैं।

सुजान शब्द के साथ घनानन्द ने लगभग चौंतीस विशेषण लगाये हैं, जैसे—मीत सुजान, प्रीतम सुजान, लाडिले सुजान, जीवनमूल सुजान, सुजान प्यारे, प्यारे सुजान, नेह निधान, सजीवन सुजान, सुजान सजीवन, सुजान अमोही, जीवन प्रान सुजान, सुन्दर सुजान, घन आनंद सुजान, सुजान घनआनंद, सुजान पिय, बिसासी सुजान, जीवन रूप सुजान, सुजान सनेही, निकाई निधान सुजान, कृपानिधान सुजान, रूपनिधान सुजान, रसीले सुजान, रसमूरति स्याम सुजान, सुजान छबीले, घनआनंद रूप सुजान, साँवरे सुजान, सुखद सुजान, सुजान बिलास निधान, सुखदान सुजान, ईठि सुजान, रँग रस बरस सुजान, नेह निधान सुजान, सुजान प्राणदान, भावते सुजान, सुजान शिरोमनि, प्रबीन सुजान।

ये सारे विशेषण पुल्लिग हैं। इसके अतिरिक्त भी 'रस मूरति', 'रसीले', 'केलि की कला निधान' तथा 'साँवरे' इत्यादि शब्द कृष्ण के वर्ण एवं स्वभाव की ओर संकेत करते हैं। पुल्लिग की प्रामाणिकता उन प्रयोगों से एकदम स्पष्ट हो जाती है जहाँ 'सुजान' शब्द नायिका के साथ प्रयुक्त होकर नायक-अर्थवाची है, जैसे—

"पौढ़े घनआनँद सुजान प्यारी परजंक।"

पुल्लिग के प्रभूत प्रमाणों के बीच कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें 'सुजान' स्त्रीवाची ध्वनित होता है, यथा—सुजान तिया, प्यारी सुजान, सुजान प्यारी, अलबेली सुजान। एक स्थान पर तो सुजान शब्द निस्संदिग्धरूपेण एक साधारण नायिका के अर्थ में है—

देखि जियौ न छियौ घनआनँद
कोवरे अंग सुजान बधू के।

लेकिन एक छन्द में कवि उसे राधा का पर्याय भी बताता है—

"राधे सुजान चितै चित दैं।"

इन तथ्यों के आधार पर दो निष्कर्ष निकलते हैं—(१) घनानंद ने सुजान शब्द को कृष्ण-राधा दोनों के लिए प्रयोग किया है और यह प्रयोग पहले से प्राप्त था। (२) घनानंद

के कवित्तों में सुजान अधिकतर नायकवाची सामान्य शब्द है, हाँ यत्र तत्र वह नायिकावाची भी है।

नायकवाची के लिए तो कहा जा सकता है कि रीतिकाल में जब 'कृष्ण' शब्द सामान्य नायक का पर्याय बन गया तो 'सुजान' का सामान्य नायक के अर्थ में प्रयोग अस्वाभाविक नहीं है। लेकिन उसे सामान्य नायिका के अर्थ में व्यवहृत करना रीतिकालीन हिन्दी-काव्य की प्रकृति से मेल नहीं खाता। अर्थात् 'सुजान' का पुल्लिगवाची व्यवहार घनानंद ने परंपरा से लेकर रीतिकालीन प्रवृत्ति में ढाला, परन्तु उसका सामान्य नायिका रूप में स्त्रीवाची इस्तेमाल न तो परम्पराजन्य है और न रीतिकालीन रसप्रवाहानुकूल।

'सुजान' शब्द की तरह ही घनानंद ने 'जान' का प्रयोग भी किया है और उसके साथ भी लगभग उसी ढंग के विशेषण हैं, जैसे—जीवन मूरति जान, जान दुलारे, जीवन अधार जान उजियारे, जान प्यारे, रंग रचावन जान, जान अमोही, चित चातकि प्रान जान, सजीवन जान, जान सजीवनि, जान जीवन प्रान, जान महा सहजै रिझवार, जान अलबेले, जान छबीले, मन भावन जान, जान सुखारे, जान प्रान प्यारे, जान प्रीतम, जान अमैंड, जान प्रबीन, जान सयान की खानि, जान महाकपटी, जान महा गरुवे गुन में। विशेषण की तरह 'सज्ञान' अर्थ में भी उसका व्यवहार हुआ है, यथा "वे तौ जान प्यारे निघरक हैं।" स्त्रीवाची प्रयोग भी हैं। अनेक छन्दों में 'जान प्यारी' शब्द आये हैं। इसके सिवाय—'जान लखी', 'जान ह्वै मानमई' जैसे प्रयोगों द्वारा भी उसके स्त्री होने का आभास मिलता है।

'सुजान' तथा 'जान' शब्दों का समानार्थी प्रयोग देखकर यह प्रश्न सहज ही उठता है कि घनानंद की प्रेयसी का नाम सुजान था कि जान? इसके साथ ही यह जिज्ञासा भी होती है कि उनकी प्रेयसी हिन्दू थी या मुसलमान?

मध्यकालीन हिन्दू पातुरों के नाम 'राय' प्रत्ययान्त होते थे जैसे—प्रवीनराय, रामराय आदि। अतः उसका नाम 'सुजानराय' हो सकता है। लेकिन 'सुजानराय' शब्द 'घनानंद कबित्त' में एक बार भी नहीं आया, जब कि 'जानराय' शब्द आठ बार प्रयुक्त है। इसलिए यदि उनकी प्रेयसी हिन्दू वेश्या थी तो उसके 'जानराय' नाम्नी होने की संभावना अधिक है। इसमें एक नुक्ते की बात यह है कि 'जान' शब्द में उसके मुसलमान होने का आभास भी मिलता है। मुसलमान वेश्याओं के नाम 'जान'—प्रत्ययान्त होते थे, जैसे—साहबजान, गौहरजान आदि। परन्तु एक समस्या यह भी है कि संख्या में 'सुजान' शब्द 'जान' से कहीं अधिक आया है।

अब इस गुत्थी को सुलझाने के लिए 'सुजान' अथवा 'जान' की व्यंजना पर ध्यान देना चाहिए। घनानंद ने सुजान या जान को 'बिसासी', 'निष्ठुर' आदि जिन विशेषणों से विभूषित किया है वे नायिकार्थ में रीतिकालीन शृंगाररस-परम्परा-पोषक नहीं है। नायिका को निष्ठुर-अत्याचारी आदि रूपों में चित्रित करना उर्दू शाइरी में प्राप्त है, साथ ही वहाँ उसे पुल्लिग शब्दों द्वारा संबोधित किया जाता है। उर्दू शाइरी में माशूक़ के लिए 'जान' शब्द आता है, जो ह्रस्व रूप में 'जाँ'-रूप धारण करता है, जैसे—

एक छोड़ा ने ज़िन्दा जाँ तूने।

अथवा

तेरे वादे पर जिये तो य जान झूट जाना।

उर्दू 'जान' शब्द हिन्दी की दृष्टि से नायक-नायिका के लिए प्रयुक्त 'प्राणप्यारे' या 'प्राणप्यारी' का समानार्थी है। 'जान' शब्द का एवंविध प्रयोग रीतिकालीन हिन्दी काव्य में प्रचलित हो चुका था। कवि 'बोधा' ने भी नायिका को 'दिलबर दिलजान' शब्दों द्वारा संबोधित कराया है—

सोवत में तोकहँ तज्यो हे दिलबर दिलजान।

'जान' शब्द संज्ञा है। माशूक़ के लिए सर्वनाम में उर्दू शाइर 'वह' शब्द का प्रयोग करते हैं जैसे—"पूछते हैं वह कि ग़ालिब कौन है।"

तात्पर्य यह कि 'वह' तथा 'जान' दोनों ही माशूक़वाची शब्द हैं। घनानंद ने इन दोनों को मिला दिया सो (वह) +जान, और शब्द बन गया सोजान=सुजान। अर्थ हुआ 'वह माशूक़'। यदि सु ('सो' का ह्रस्वरूप) को सर्वनाम न मानकर उपसर्ग मानें तो 'सुजान' का अर्थ 'सुन्दर माशूक़' होगा। परन्तु 'सु' उपसर्ग 'जान' तथा 'सुजान' में अन्तर कर देता है। प्रेमी अपने माशूक़ को कभी सुन्दर माशूक़ कहे और कभी केवल माशूक़ कहे यह अनुचित है। उसके लिए तो वह सदैव एक रूप है। अतः सु' को सर्वनाम मानना ही ठीक है। घनानंद ने जहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं किया वहाँ अपने प्रेमपात्र को 'जान' कहा और जहाँ सर्वनाम लगाया वहाँ 'सुजान' कहकर पुकारा। उर्दू कविता में 'जान' शब्द उभयलिंगी है, अतः 'सु' को अन्य पुरुषीय सर्वनाम मानने से 'जान' तथा 'सुजान' दोनों समस्याओं का युगपत् समाधान हो जाता है। इसलिए हमारी धारणा है कि 'सुजान' घनानंद की प्रेमिका का वास्तविक नाम न होकर कवि-कल्पना द्वारा खोजा गया एक प्रतीक मात्र है, जिसका निर्माण उन्होंने माशूक़वाची 'वह' और 'जान' शब्दों को मिलाकर किया है।

—१७८, एलेनगंज,
इलाहाबाद-२

●

अज्ञात कवि गोपाल तथा उनकी काव्य-कृति

⊙

स्वामी वाहिद काज़मी

भारतीय धर्म एवं दर्शन के महान कवि हज़रत ऐन शाह (कविता-काल सं० १८७३-१९०१ वि०) बीस-इक्कीस विशद काव्य-ग्रन्थों के प्रणेता ही नहीं, सिद्ध-साधक तथा संत-पुरुष भी थे। वे चमत्कारी व्यक्ति तो नहीं थे किंतु दैवी प्रतिमाओं के देदीप्य पुंज ऐसे थे जिससे

आकर्षित होकर हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही उनका शिष्यत्व ग्रहण करने का लोभ संवरण न कर सके। जन सामान्य के अतिरिक्त तत्कालीन ग्वालियर एवं दतिया रियासतों के नरेशों की उन पर भारी श्रद्धा थी तथा उनके बड़े-बड़े सरदार व राज-पुरोहित उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर चुके थे। किंतु यहाँ उनके एक ऐसे प्रतिभाशाली शिष्य का परिचय देना अभीष्ट है जो एक अच्छे कवि भी थे, जिन्होंने एक काव्य-पुस्तक की रचना भी की है; हालाँकि ऐन शाह के शिष्यों में कहीं उनका उल्लेख नहीं मिलता है और वे भी उसी प्रकार अज्ञात हैं जिस प्रकार उनके गुरु विस्मृत किये जा चुके हैं।

उन सज्जन का पूरा नाम श्री गोपालदास था तथा उपनाम के लिए उन्होंने 'गोपाल' शब्द का ही प्रयोग किया है। उन्होंने अपने पिता का नाम गिरधारी लाल तथा 'आजा' (शायद पितामह ?) का नाम चतुर्भुज बताया है। वे स्वयं को दुसर जाति का तथा गोलस गोत्रधारी बताते हैं और डहरो नामक किसी स्थान के निवासी भी, जहाँ उन्होंने अपना प्रारंभिक जीवन व्यतीत किया था। तदुपरान्त वे काणोड नामक स्थान पर आ बसे थे, जहाँ उस समय किसी बड़े राजा का शासन था जिसका नाम उन्होंने नहीं बताया है। काणोड शब्द कानोद का अपभ्रंश लगता है जिसे शायद वर्तमान में कन्नौज कहते हैं। आत्म-परिचय के रूप में उन्होंने अपनी काव्य-पुस्तक में इतना ही बताया है। इसके अतिरिक्त, उनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित अन्य बातों की जानकारी हमें अभी तक अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हो सकी है।

अनुमानतः कहा जा सकता है कि यह संत-प्रवृत्ति एवं धार्मिक स्वभाव के व्यक्ति रहे होंगे और उन्हें किसी सद्गुरु की खोज भी रही होगी। यथासमय इनकी भेंट किसी स्थान पर ऐन शाह से हो गई होगी और वह उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके शिष्यत्व में सम्मिलित हो गये होंगे। ऐन शाह किसी एक ही स्थान पर स्थाई रूप से निवास न करते हुए प्रायः ही ग्वालियर (जो उनका जन्म-स्थान तथा प्रयाण-स्थली दोनों ही रहा) के अतिरिक्त दतिया, अलवर, जयपुर, दिल्ली आदि स्थानों में प्रवास करते रहते थे, अतः संभव है कि जयपुर-प्रवास के समय उनसे इनकी भेंट हुई हो और वहाँ इन्होंने अपना अधिकांश समय गुरु-चरणों में व्यतीत किया हो। वहीं इन्होंने अपनी काव्य-पुस्तक की भी रचना की। उल्लेखनीय है कि इनके गुरु ऐन शाह ने भी अपने अनेक ग्रंथों का प्रणयन जयपुर में किया था। इन्होंने उस पुस्तक की रचना अपने गुरु की इच्छा से तो की ही थी; हो सकता है भेंट या दक्षिणा स्वरूप उन्हें यह अर्पित भी की गई हो।

गोपालदास "गोपाल" द्वारा रचित यह काव्य-पुस्तक जिसे 'ज्ञानसार मोहलीला' का नाम दिया गया है (चाहे तो आसानी के लिये इसे 'ज्ञान सार' उर्फ़ 'मोह लीला' भी कह सकते हैं), यद्यपि एक संक्षिप्त एवं लघुकाय रचना ही है, किंतु समस्त छंद अच्छे हैं, सरस हैं, सरल हैं और रोचक भी। ७"×९" आकार के इसमें केवल २५ पृष्ठ हैं और कुल ५६ कुंडलिया छंदों का समावेश हुआ है। ऐन शाह के समान ही कुंडलिया छंद में रचना करने का कारण सिवाय गुरु-अनुसरण के और क्या संभव है? यह पुस्तक हमें ऐन शाह के मूल हस्तलिखित

ग्रंथों के अस्त-व्यस्त तथा परस्पर गडमड हो गये पन्नों के बीच-बीच में चिपके हुए पन्नों के रूप में मिली है जिस कारण इसके कुछ पृष्ठों पर अन्य ग्रंथों के अक्षरों की गहरी 'छाप' लग जाने से वे पढ़े नहीं जा सकते। काली धुँधली पड़ी स्याही से पतले क़लम से लगभग 'घसीट' हस्त-लेख तथा अस्वच्छ लेखन के कारण इसे सरलता से पढा भी नहीं जा सकता था। पुस्तक का रचना-काल एक छंद में कवि के शब्दों के अनुसार यों व्यक्त हुआ है—'विक्रम के संवत १८९१ में, वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की त्रितीया तिथि को आदित्यवार के शुभ दिन, जो हरिजू के जन्म के कारण महा पुनीत दिवस भी है, इसकी रचना भूमसवाई ज्यैनगर में संपूर्ण हुई।'

पुस्तक रचे जाने का मूल कारण कवि ने छंद संख्या ५ में उल्लिखित किया है। किंतु इस छंद का कुछ भाग मिट गया है इसलिये पूरी बात समझ में नहीं आती। तथापि संदर्भ की दृष्टि से उसका जितना भाग पढ़ने में आता है वह महत्त्वपूर्ण है। वह छंद यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत करते हैं:—

प्रबोध उदेत नाटक हतो सहस किरत के भास (मास)।
सो चरचा भई येक दिन श्री ऐनानंद··पास॥
श्री ऐनानंद पास दर ········ आयो।
कही कुण्डली करो भास (मास) में······॥
गुरु अग्या परताप तै भई बु··········।
प्रबोध उदेत नाटक हतो सहस किरत के भास (मास)॥

उल्लेखनीय है कि ऐन शाह को उनके हिन्दू शिष्य श्रद्धानुसार श्री ऐनानंद तथा ऐन-साईं या साईं ऐनानांद भी कहते थे। यहाँ कवि ने 'प्रबोध उदेत' नाम के जिस नाटक का उल्लेख किया है वह हमारी समझ से 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक वही प्राचीन नाटक प्रतीत होता है जिसकी रचना सन् १०६५ ईसवी में—कृष्ण मिश्र नामक एक दंडी परिव्राजक के द्वारा—की गयी थी और ऐसा भी कहते हैं कि उसे चंदेल राजा कीर्तिवर्मा के सामने अभिनीत भी किया गया था। ऐन शाह को भारतीय अध्यात्म एवं दर्शन विषयक ग्रंथ तथा शास्त्र आदि सुनने तथा उन पर मनन करने का बड़ा चाव था। किसी समय उक्त नाटक की भी उनके सत्संग में चर्चा रही होगी; उसी का उल्लेख कवि ने किया है। वही इस पुस्तक-रचना का मूल-प्रेरणा-स्रोत है। प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित कथा तो उक्त नाटक के कथानक से मेल नहीं खाती किंतु जिस प्रकार उसमें मानव की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों को स्त्री-पुरुष पात्रों के रूप में वर्णित किया गया है, वैसा ही इसमें भी है। लेकिन 'प्रबोध चन्द्रोदय' के पात्र सामान्य स्त्री-पुरुषों जैसा व्यवहार-व्यापार करते दीखते हैं जबकि 'ज्ञान-सार' में उनका वर्णन पौराणिक एवं अलौकिक रूप में किया गया है।

पुस्तक में वर्णित कथा का सार यह है कि मानव की प्रवृत्तियों का एक आन्तरिक जगत है जिसमें असद् प्रवृत्तियों का राजा 'मोह' है जिसके स्वजन एवं साथी 'काम', 'क्रोध', 'लोभ', 'मत्सर', 'अहंकार' आदि पुरुष तथा उनकी स्त्रियाँ 'हिंसा', 'अश्रद्धा', 'तृष्णा' आदि हैं। सद्-प्रवृत्तियों का राजा है 'विवेक' जिसके सखा 'सुविचार', 'सन्तोष', 'ज्ञान', 'सत्य', 'क्षमा' आदि

पुरुष तथा 'शांति', 'विद्या', 'श्रद्धा' आदि उनकी स्त्रियाँ हैं। 'मन' या 'हृदय' पर अधिकार करने की लालसा से इन दोनों राजाओं में परस्पर भीषण संग्राम छिड़ता है जिसमें एक-एक करके मोह के सारे योद्धा मारे जाते हैं और 'राय विवेक' विजयश्री प्राप्त करते हैं, जिसके फलस्वरूप 'मन' को परम शांति उपलब्ध होती है। इस छोटी सी कथा को कुंडलिया छंदों की शैली में जिस रोचकता के साथ प्रस्तुत किया गया है, उसका रसास्वादन कराने हेतु कुछ छंद यहाँ प्रस्तुत हैं:—

रिस भर आई ईरषा मनू बसं की गोभ।
सभ सेनापत संग लै काम क्रोध अर लोभ॥
काम क्रोध अर लोभ सभे मद्य मतसर आये।
अहंकार पाखंड दंभ राजा मन भाये॥
सकल आये ठाड़े भये जे निषेद की सोभ।
रिस भर आई ईरषा मनू बसं की गोभ॥

और उस समय जो मंत्रणा की गई उसके अनुसार निर्णय यह लिया गया कि—

असत संग अर ईरषा कहत क्रोध सुन बात।
सस्त्र अपने साज के कीज्ये कछु उतपात॥
कीज्यै कछु उतपात चलो अब जुद्ध मचावो।
करो बड़ौ संगराम ववेक कूं मार भगावो॥
यह सुन सभ ठाड़े भये चले जुद्ध कूं जात।
असत संग अर ईरषा कहत क्रोध सुन बात॥

उधर, इनके प्रति राय विवेक के यहाँ की जो दशा है वह भी कम दर्शनीय नहीं:—

चोबदार अत वेदवंत सरछा राजा पास।
पुन आये सितोष जो करत लोभ को नास॥
करत लोभ को नास मंत्र देवे कूं सरधा।
असत संग को देख छीन तन दीखत बिरधा॥
राज बवेक को देख के मन में महा हुलास।
चोबदार अत वेदवंद सरधा राजा पास॥

अब तो, ये भी बढ़ चले रणस्थल की ओर :

सांत अहंस्या मित्री ते सभ मत के साथ।
बैठ अमिथ्या सु सुनी देवादिक की गाथ॥
देवादिक की गाथ सुने बहोते सुख पायो।
मतै कियौ अब चलो मोह ते जुद्ध मचावो॥
खांडा वेद पुराण के सभ जोधन के हाथ।
सांत अहंस्या मित्री ते सभ मत के साथ॥

अब जिस-जिस को अपने योग्य 'जोड़ीदार' से कवि गोपाल जी ने लड़वाया है उनकी

हुलिया तथा लड़ने का ढंग आदि पढ़ते समय किसी चल-चित्र जैसा आनन्द आता है। प्रस्तुत है 'क्रोध' से 'क्षमा' के साथ संघर्ष-चित्रण का यह दृश्य।

मुख ते विष बरषै सदा रगत नैन कर क्रोध।
कोपवंत वा दिस चलौ मन में महा विरोध।।
मन में महा विरोध असत्री हन्स्या साधा।
सकल भास को रूप पाप की पूरण गाथा।।
छिमा आये ठाढ़े भये तन मन सभै अरोध।
मुख ते विष बरषै सदा रगत नैन कर क्रोध।।
कोपत कूदत कोप अत सभ तन कांपत जास।
चाहे खडग उठाय के करै छिमा को नास।।
करै छिमा को नास, रगत की कीच मचावै।
बके ब्रथा अग्यान बहोत निज बलै जतावै।।
छिमा हास के वाण सै कीनौ घायल वाह।
कोपत कूदत कोप अत सभ तन कांपत जास।।

और आगे भी ऐसे संघर्षमय चित्रण पूरी सजीवता लिये हुए प्रस्तुत होते हैं:—

असत संग अर नासतक मतसर रण के बीच।
तिनके संग अनरथ निलज महा जात में नीच।।
महा जात में नीच बहोत निज बलै जतायो।
तब वा दिस ते ग्यान सकत वेदांत उठायो।।
सभ जोधा घायल किये भई रगत की कीच।
असत संग अर नासतक मतसर रण के बीच।।
मारयो तबे हर क्रोध कूं पायो अत आनंद।
हन्स्या भज के बिध कें गई महा मत मंद।।
गई महा मत मंद बोहर मद निंदया भाज्ये।
ससत्र आपन देख आप ही मन में लाज्ये।
अह विध सभ सत्रू मरै कृपा करी गोबिंद।।
मारयो तबे हर क्रोध कूं पायो अत आनन्द।।

तत्पश्चात जब 'विवेक' को इस रण में सफलता मिलती है तो कवि के अनुसार:—

सुरबासी फुल्लत भये आनंद उर न समाय।
फूलन की वरषा करी सुरगलोक ने आय।।
सुरगलोक ते आय बधाई बहोते कीनी।
भयो सबद आनंद असीस सबहिन मिल दीनी।।
सुरन बहोत आनंद कियो बहो बाजंत्र बजाय।
सुरबासी फुल्लत भये आनंद उर न समाय।।

अन्त में इन शब्दों के साथ कवि ने अपने द्वारा वर्णित इस कथा की समाप्ति की घोषणा इस छंद द्वारा कर दी है :—

यह लीला बरनन करी 'ग्यान-सार' जह नाम।
जो कोउ या में चित्त दे होय हैं पूरण काम॥
होय हैं पूरण काम वहोर इच्छा कछू नांही।
मन की वेदन जान कह्यो यह वेदन मांही॥
दास 'गुपाल' कर जोड़ के करे 'ऐन' प्रनाम।
यह लीला बरनन करी 'ग्यान-सार' जह नाम॥

इस प्रकार, श्री गोपालदास द्वारा रचित यह पुस्तक एवं उसमें वर्णित कथा संक्षिप्त होने के बावजूद भी यह विशेषता रखती है कि इसमें जिस तथ्य को उपदेशित किया गया है वह व्यापक है। साथ ही, यह भी कि जिस ढंग से कवि ने उसे प्रस्तुत किया है वह रोचक तो है ही, सजीव भी है तथा मन पर अपना एक प्रभाव भी डालता है, जो इस कृति की एक सफलता कहा जाना चाहिए। और यही शायद रचयिता का उद्देश्य भी रहा है। अतः यह कहना उचित होगा कि उनके द्वारा रचित यह काव्य-पुस्तक निःसन्देह एक सफल रचना है।

—द्वारा, डॉ० आर० एल० नरूला,
२ ई/८७ एन० आई० टी०,
फरीदाबाद (हरियाणा)

उद्देश्य को 'सब्जेक्ट' का पर्याय कर्ता मानने की समस्या

आचार्य वात्स्यायन धर्मनाथ शर्मा

हम अपनी भाषा स्वतः शुद्ध बोल लेते हैं। अतः भाषा पर नहीं, अपितु भाषा का गलत प्रयोग करने वालों पर अनुशासन की आवश्यकता है। भाषा वाक्यों से बनती है। वाक्य के दो प्रमुख अंग होते हैं :—उद्देश्य और विधेय। उद्देश्य सिद्ध होता है, और विधेय साध्य होता है। 'उद्देश्य' का अर्थ है उद्देष्टुं योग्य, और 'विधेय' का अर्थ विधातुं योग्य। विधातुं योग्य वही होगा जो उसमें न हो और पुनः उद्देश्य के अनुसार उसमें कर दिया जाय। विधेय क्रिया भावरूप होने से उसमें पुरुष-वचन एवं लिङ्ग अपने नहीं होते हैं। ये तत्त्व उसमें उद्देश्य के अनुसार विधेय होते हैं अर्थात् कर दिये जाते हैं। उद्देश्य सिद्ध होता है, अतः उसमें पुरुष-वचन एवं लिङ्ग तत्त्व अपने होते हैं। उद् उपसर्ग पूर्वक दिश् अतिसर्जने से बनता है अर्थात् उद्देश्य के पुरुष-वचन एवं लिङ्ग क्रिया में देय होते हैं। क्रिया, उद्देश्य के पुरुष-वचन एवं लिङ्ग आत्मसात् कर लेती है। जब क्रिया उद्देश्य कर्ता के पुरुष-वचन एवं लिङ्ग धारण करती है, तब हम कर्तृवाच्य कहते हैं और जब उद्देश्य कर्म के पुरुष-वचन एवं लिङ्ग ग्रहण करती है, तब उसे कर्म-वाच्य कहते हैं। और जब कर्ता या कर्म किसी के भी

पुरुष-वचन एवं लिङ्ग को नहीं लेती है, और भाव प्रधान होने से निरपेक्ष होकर प्रथम पुरुष एक वचन और पुंल्लिग में होती है, तब हम उसे भाव वाच्य कहते हैं।

क्रिया के पुरुष-वचन एवं लिङ्ग के द्वारा जिसके पुरुष वचन एवं लिङ्ग उक्त हो जाते हैं, उसे उक्त या अभिहित कहा जाता है। उक्त चाहे कर्ता हो या कर्म; उसमें प्रथमा-विभक्ति अर्थात् अविभक्तिक रूप रहता है। कर्तृवाच्य क्रिया से कर्ता उक्त हो जाता है और कर्म अनुक्त रहता है। कर्मवाच्य क्रिया से कर्म उक्त हो जाता है और कर्ता अनुक्त रहता है। भाव वाच्य क्रिया से कर्ता तथा कर्म दोनों अनुक्त रहते हैं। अनुक्त कर्ता में 'ने' विभवित चिह्न लगता है; और अनुक्त कर्म में 'को' या उसका विकल्प 'ए' विभक्ति चिह्न लगता है। कर्म-कर्तृवाच्य में क्रिया कर्म-कर्ता के पुरुष-वचन एवं लिङ्ग लेती है। हिन्दी भाषाभाषी स्वतः ऐसा प्रयोग किया करते हैं।

पाश्चात्यों की पारमिता प्रज्ञा से प्रभावित हो हिन्दी वैयाकरण उनके पारिभाषिक तत्त्वों के द्वारा हिन्दी भाषा को समझाने का प्रयास करते हैं। अंग्रेजी में उद्देश्य को Subject कहते हैं, और Subject को कर्ता भी कहते हैं। अतः हिन्दी वैयाकरण गुरुजी, उद्देश्य चाहे कर्ता हो, कर्म हो उसे ही कर्ता मानने के लिए कर्ता की नयी परिभाषा करते हैं :—

'क्रिया से जिस वस्तु के विषय में विधान किया जाता है, उसे सूचित करने वाले संज्ञा या सर्वनाम के रूप को कर्ता-कारक कहते हैं। हिन्दी में कारक और विभक्ति का संस्कृत रूढ अन्तर न मानने के कारण कर्ता का यह विशेष लक्षण करते हैं। संस्कृत में 'स्वतन्त्रः कर्ता' में धात्वर्थ व्यापाराश्रय का ही समावेश है। व्यापार के आश्रय से भिन्न स्थिति-दर्शक और विकार-दर्शक का भी समावेश कर्ता के इस नये लक्षण से हो सकता है। इसके सिवा सकर्मक क्रिया के कर्मवाच्य में कर्म का जो मुख्य रूप होता है उसका भी समावेश इस लक्षण में हो जाता है।' अर्थात् कर्मवाच्य में कर्म कर्ता बन जाता है।

छात्रवृन्द विद्यालय में यही सीखता है कि कर्मवाच्य में कर्म कर्ता बन जाता है और कर्ता कर्म। क्योंकि Passive Case में Object तो Nominative हो जाता है और Subject Objective बन जाता है।

संस्कृत में कर्ता का लक्षण है 'स्वतन्त्रः कर्ता' क्रिया में स्वातन्त्र्य से विवक्षित कर्ता होता है। और कर्म तो कर्ता के व्यापाराधीन हो फल को भोगता है। कर्ता तो स्वयुक्त होता है। कर्म अभियुक्त होता है। कर्ता स्वयुक्त होने से Subject होता है और कर्म, अभियुक्त होने से Object होता है। और जब कर्म को ही स्वयुक्त या स्वातन्त्र्य रूप से विवक्षित कर देते हैं तब कर्म ही कर्ता हो जाता है। प्रेरणार्थक क्रिया में स्वतन्त्र कर्ता का प्रयोजक भी 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' से कर्ता बन जाता है, साथ ही हेतु भी। तब स्वतन्त्र कर्ता, प्रयोज्य कर्ता बन कर अनुक्त हो जाता है। और कर्म-वाच्य में कर्म तो उक्त हो जाता है और स्वतन्त्र कर्ता अनुक्त हो जाता है। इस प्रकार भाषा में स्वतन्त्र कर्ता का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। परन्तु हिन्दी वैयाकरण गुरुजी, कहते हैं स्वतन्त्र कर्ता का प्रयोग हिन्दी में अधिक नहीं होता है। ५११ का सू० 'जिस संज्ञा या सर्वनाम का

वाक्य के किसी शब्द से संबन्ध नहीं रहता, अथवा जो केवल पूर्वकालिक अथवा अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त से संबन्ध रखता है और कर्ता कारक में आता है उसे स्वतन्त्र कर्ता कहते हैं।'

हिन्दी वैयाकरण गुरु जी की कर्ता की परिभाषा को A Basic Grammar of modern Hindi के वैयाकरण डाक्टर वृन्द भी मान्य नहीं ठहराते। 'शत्रु मारा गया' इस वाक्य में गुरु जी की कर्ता की परिभाषा से 'शत्रु' कर्ता है। परन्तु डाक्टर वृन्द अधिक बुद्धि-ग्राह्य बात कहते हैं :—271 (a) In a sentence like, शत्रु मारा गया the logical subject (one who kills the enemy (स्वतन्त्र: कर्ता) is not mentioned, but can be guessed, (by the hero). The Garmmatical subject (about whom something has been said) is शत्रु who has been acted upon (killed) is the real object towards whom the action of killing has been directed.

इन दोनों पाश्चात्य प्रभावित हिन्दी वैयाकरणों के सामने अंग्रेजी का उद्देश्य Subject है। गुरु जी उद्देश्य को ही कर्ता मानते हैं। डाक्टर वृन्द उद्देश्य के वाचक Subject को Grammatical Subject मानते हैं और उससे भिन्न स्वतन्त्र कर्ता के logical subject और कर्म को (who has been acted upon) को logical object मानते हैं।

परन्तु सामान्य हिन्दीभाषी तो कर्तानुसारी क्रिया को कर्तृवाच्य और कर्मानुसारी क्रिया को कर्मवाच्य मानता है और जब क्रिया कर्ता और कर्म से निरपेक्ष होकर प्रथम पुरुष एक वचन और पुँल्लिङ्ग होती है तो उसे भाव-वाच्य मानता है। उद्देश्य के पुरुष वचन एवं लिङ्ग को क्रिया लेती है अतः वह उद्देश्य को ही क्रिया से 'उक्त' मानता है और उक्त चाहे कर्ता हो या कर्म हो उसे अविभक्तिक प्रथमा विभक्ति का रूप मान लेता है।

उद्देश्य को Subject का पयार्य कर्ता मानने की समस्या हिन्दी वैयाकरणों के सामने भले ही हो, सामान्य हिन्दी-भाषी बिना व्याकरण-ज्ञान के ही स्वतः शुद्ध बोल लेता है। वह काल के भी सोलह भेदों को नहीं मानता। वह तो वर्तमान, भूत, भविष्य, संभाव्य से विधि, आज्ञा, आशीः और हेतु हेतुमद्भूत से काम चला लेता है। भूत के, पढ़ा, पढ़ा है, पढ़ा था, सामान्य भूत, समीप भूत, दूर भूत, इन भेदों को तो समझता है। पूर्ण-भूत-अपूर्ण-भूत, सन्दिग्घ-भूत उसकी समझ में नहीं आते हैं। उसकी समझ में 'भूत' तो, बीत गया सो बीत गया, उसके पूर्ण, अपूर्ण और सन्दिग्ध भूत प्रकार कैसे? सामान्य तौर से पढ़ता है कह दिया। समाप्त कर दिया तो पढ़ चुका, कार्य चल रहा है तो पढ़ रहा है। फल की प्राप्ति हो जाने को 'पढ़ गया'। अपने लिए तो पढ़ लिया दूसरे के लिए पढ़ दिया आदि भावों को सरलता से व्यक्त कर लेता है। वह हिन्दी को जटिल नहीं समझता है। सबसे सरल समझता है।

संस्कृत के शब्दों को तत्सम रूपों में, अन्य भाषा के शब्दों को तत्सम या तद्भव जैसा चलन हो शुद्ध मानता है। लिखित रूपों को मान्यता देता है; उन्हीं को शुद्ध समझता

है। लिखित से भिन्न कथित रूपों को शुद्ध नहीं मानता है। कलकत्ते से बम्बई और शिमला से लेकर हैदराबाद के समाचारपत्रों की एकरूप भाषा का, सोवियत भूमि और चीन की हिन्दी ब्राडकास्टिंग, बी० बी० सी०, लन्दन की हिन्दी में अपनी हिन्दी पाता है।

—साकेत,
आर्य नगर, कानपुर

पुस्तक परिचय

⊙

आन्ध्र के लोक-गीत——लेखक : डा० कर्ण राजशेषगिरि; प्रकाशक : आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्तेर; मूल्य : ३४ रुपया ५० पैसा।

ग्यारह अध्यायों में विभाजित "आन्ध्र के लोक-गीत" लेखक के शोध-प्रबन्ध का प्रथम खंड है, जिस पर उसे आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है।

पूरे ग्रन्थ के तीन प्रमुख भाग हैं——विषय-प्रवेश, वर्ण्य-विषय और निष्कर्ष। प्रथम भाग में आन्ध्र का भौगोलिक परिचय देने के बाद वहाँ के प्रमुख देव-स्थानों का वर्णन देना महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। इससे दक्षिण में नरसिंह उपासना तथा राम और ब्रह्मा आदि के मन्दिरों पर प्रकाश पड़ता है। दूसरे अध्याय में लोक-भाषा-प्रधान देशी पद्धति का परिचय देने के साथ लोक-साहित्य पर हुए पूर्ववर्ती कार्यों का उल्लेख है। इस भाग के अन्तिम अध्याय में दक्षिण लोकनाट्य-परम्परा के एक प्रमुख अंग यक्ष-गान के ३० प्रकारों का परिचय एवं उनकी विशेषताएँ दी गई हैं।

दूसरे भाग के छः अध्याय हैं——आन्ध्र लोक-गीतों का वर्गीकरण, लोक-गीतों का परिचय, कथा-गीत : तत्व एवं परम्परा, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, लोक-गीतों में रस-परिपाक और कला-पक्ष। पता नहीं लेखक ने लोक-गीतों का षट्विध विभाजन करते हुए प्रकीर्ण गीतों का परिचय क्यों नहीं दिया है। हाँ, समग्र लोक-गीतों को आनुष्ठानिक और निरानुष्ठानिक में रख कर क्रिया-गीत, क्रीड़ा-गीत, ऋतु-गीत, पर्व-गीत, भक्ति-गीत आदि भेदोपभेदों के अन्तर्गत लेखक ने इनका विस्तृत परिचय दिया है। यह जानना रोचक होगा कि आन्ध्र में विभिन्न जातियों के अपने अलग-अलग लोक-गीत हैं।

आन्ध्र के कथात्मक गीत कथा-गीत कहलाते हैं, जो चार प्रकार के हैं——क्रिया-गीत, आनुष्ठानिक-गीत, धार्मिक-कथाएँ और बुर्र कथाएँ। प्रथम तीन स्त्रियों के गीत हैं जिनमें वाद्य का अभाव रहता है परन्तु बुर्र कथा-गीतों को स्त्री या पुरुष कोई भी समूह में गाते हैं, जिनमें वाद्य का भी प्रयोग होता है।

लोक-गीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत लेखक ने उनमें प्राप्त प्रकृति-चित्रण, पारिवारिक सम्बन्धों, विविध गायकों-वाद्यों, वस्त्रों, खाद्य पदार्थों, आभूषणों, मनोरंजन, सर्वोदय भावना तथा धार्मिक, आर्थिक, भौगोलिक, राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया है।

भाव पक्ष की दृष्टि से इन लोक-गीतों में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों रूपों के अतिरिक्त हास्य, करुण, वीर और शान्त रस मिलते हैं तथा कला पक्ष के अन्तर्गत विविध अलंकारों, लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्तियों, तीनों वृत्तियों और श्रुति, यति, गति, प्रास आदि का प्रयोग मिलता है।

प्रस्तुत शोध-कार्य में लेखक का एक उद्देश्य उत्तर एवं दक्षिण भारत की संस्कृतियों में एकता-प्रदर्शन का भी रहा है। इसे उसने ब्रजी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, उड़िया, भोजपुरी, मैथिली आदि लोक-गीतों की तुलना कर के स्पष्ट किया है।

जहाँ शोध-प्रबन्ध की विषयवस्तु के प्रस्तुतिकरण में लेखक ने अथक परिश्रम का परिचय दिया है वाक्य-विन्यास खटकता है। इसी प्रकार वर्तनी की भी अशुद्धियाँ हैं परन्तु सही क्रमांकों के अभाव [पृ० १५४ पर 'ग' के पूर्व 'क', 'ख'; पृ० १५६ पर ३ के पूर्व १, २ अनुल्लिखित] का तो कोई औचित्य नहीं लगता। ग्रन्थ का गेटप तथा मुद्रण अच्छा है।

प्राकृत से वर्षा ज्ञान——संकलनकर्ता व अनुवादक : डा० जयशंकर जी शर्मा; प्रकाशक : श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी साहित्य परिषद्, कलकत्ता और बीकानेर; मूल्य : ५ रुपए।

भारत कृषि-प्रधान देश है और कृषि के लिए पानी एक आवश्यक तत्व है। पानी के साधन हैं——पृथ्वीगत जल के उपयोग द्वारा सिंचाई और वर्षा। प्रथम मानवजात होने से कष्टसाध्य है इसलिए वर्षा के लिए ही यजुर्वेद से स्तुतियाँ मिलती हैं :

"ओ३म् आ ब्रह्मन्. . .निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षत।"

—अध्याय २२।२२

[हे ब्रह्मन्! समय-समय पर पर्जन्य वर्षा करता रहे]।

वर्षा समयानुकूल हो तभी उपयोगी है अतः वर्षा के समय, उसकी मात्रा, अकाल, सुकाल आदि को जानने के लिए प्राचीन आचार्यों ने गहन अनुभव अर्जित कर रखा था। महर्षि गर्ग, पाराशर, कश्यप, वप्र आदि आचार्यों से वराहमिहिर तक इस विषय का गम्भीर अध्ययन होता रहा है।

कार्तिक से फाल्गुन मास तक आकाश में बादल होने पर विद्युत् के संसर्ग से वर्षा का गर्भ-धारण होता है। गर्भ-धारण से साढ़े छः मास के पश्चात् वर्षा होती है। गर्भ-धारण के पश्चात् वर्षा का योग कैसा है, इसे भौम, अन्तरिक्ष, दिव्य तथा मिश्र नामक चार प्रकार से जाना जाता था।

प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० जयशंकर देवशंकर जी ने राजस्थान में प्रचलित डक्क, [डंक] भड्डली [भड्डरी], मेघ आदि की वर्षा सम्बन्धी सूक्तियों का संग्रह किया है। डॉ० शर्मा ने समस्त सूक्तियों को मासिक ढंग से विभाजित कर चैत्र मास से ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। प्रत्येक मास के वर्णन में पहले शुक्ल फिर कृष्ण पक्ष को लेकर प्रत्येक तिथि के लक्षण देने का प्रयास किया गया है। यद्यपि इस सम्बन्ध में लेखक को पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है क्योंकि बहुत-सी तिथियों के लक्षणों का अभाव है।

भौम निमित्त के अनुसार वैशाख में अक्षय तृतीया की रात्रि को शृगालों का न बोलना

दुर्भिक्षसूचक और चारो प्रहरों में उनका बोलना सुभिक्षसूचक योग है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष निमित्त के अनुसार यदि––

"जेठ मास जो तपै निरासा। तो जाणौ बिरखा की आशा॥" ––पृ० ६७

अर्थात् ज्येष्ठ मास में अत्यधिक गर्मी हो तो वर्षा आने की आशा रखनी चाहिए।

ग्रन्थ के यह लक्षण दो प्रकार के हैं––दुर्भिक्षसूचक और सुभिक्षसूचक। एक ही लक्षण समयान्तर से भी भिन्न स्थिति का द्योतक है, जैसे भाद्रपद षष्ठी को अनुराधा नक्षत्र का उदय वर्षाकारक परन्तु सप्तमी को अनावृष्टिकारक है। इसी प्रकार एक ही लक्षण से दो स्थितियाँ भी सम्भव हैं, जैसे भाद्रपद में अगस्त नक्षत्र का उदय वर्षा की समाप्ति का सूचक है, परन्तु यदि वर्षा प्रारम्भ हो जाए तो वह अत्यधिक होगी। इस प्रकार वर्षा का योग बताने के लिए अत्यन्त सूक्ष्म अनुभव की आवश्यकता है।

संकलनकर्ता ने राजस्थानी सूक्तियों का अर्थ तथा अन्य भाषाओं से उनकी तुलना देकर ग्रन्थ का महत्व बढ़ा दिया है, परन्तु सन्दर्भों का अभाव खटकता है। अन्ततः पुस्तक रोचक तथा पठनीय है।

––डॉ० क्षेत्रपाल गंगवार

विल्डू साहब––ले० : डा० ओमप्रकाश, रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; प्रकाशक : हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली ७; मूल्य ४.३७; पृष्ठ संख्या ८५।

डा० ओमप्रकाश अलंकार विषय के आचार्य एवं मध्ययुगीन साहित्य के सुधी समीक्षक के रूप से विख्यात हैं। उनके व्यक्तित्व का एक अन्य पक्ष भी है जो प्रस्तुत रचना के द्वारा पाठकों के समक्ष आता है। गंभीर विचारक, कुशल लेखक एवं संतुलित समीक्षक के भीतर से झाँकती हुई व्यंग्य-विनोद की किरणें पाठकों से समाज के कठोर यथार्थ का कवित्व-पूर्ण परिचय करा देती हैं।

'विल्डू साहब' डा० ओमप्रकाश जी के १४ व्यंग्य-विनोद चित्रों का संग्रह है जो हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है। इन व्यंग्य-चित्रों में कल्पना द्वारा अनुरंजित यथार्थ-जीवन की विशेष दिशाओं को अन्तर्सूत्रों से आबद्ध किया गया है। ये सभी चित्र व्यंग्य की रेखाओं से निर्मित होने के कारण कहीं-कहीं बहुत ही गम्भीर अर्थ का छायांकन लिये हुए हैं। तिरछी और नुकीली संवेदना से समाज के अतिसामान्य (अबनार्मल) विकृत रूपों को बिम्बायित करते हुए डाक्टर ओमप्रकाश जी ने अपने सहज विनोदी स्वभाव की अर्धस्मित रेखायें बिखेर दी हैं, उन्हीं की एकान्विति इन चित्रों की संसृष्टि करती है।

इन व्यंग्य-चित्रों की पार्श्वभूमि (Back ground) प्रायः आगरा, दिल्ली, कलकत्ता और कहीं-कहीं ग्रामीण क्षेत्र पर आधारित है। 'विल्डू साहब' रेखाचित्र की पार्श्वभूमि तो आगरा ही है। विशेषकर राजामंडी मुहल्ले को इस व्यंग्य-चित्र की पृष्ठभूमि दी गई है। भण्डारी जी के 'सुन्दर होटल' में शायद मैंने भी इसी प्रकार के व्यक्ति को देखा था। इस व्यंग्य-चित्र को पढ़ते हुए मैं अनायास ही सन् १९५१ का अतीत दुहराने लगता हूँ तो 'विल्डू साहब' कुछ-कुछ याद में आने लगते हैं। क्योंकि सुन्दर होटल में मेरे कई सहपाठी भोजन

करते थे अतः कभी-कभी मुझे भी वहाँ के मच्छरों के संगीतमय वातावरण में षट्रस व्यंजन का आस्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लेखक ने अपनी दृष्टिपथ में उभरते हुए उन दृश्यों को सहज ही आकलित कर दिया है जिनकी सौन्दर्यानुभूति इसी विशेष पार्श्व-भूमि में ही प्राप्त हो सकती है। विल्डू साहब का व्यंजना-चित्र अथवा कार्टून सही फोकस में बहुत सशक्त बन गया है—"उन दिनों हम ऐसी सन्तान को 'ऐंग्लो-इंडियन' कहा करते थे। विल्डू शब्द की व्युत्पत्ति देखिए—"विल्डू' शब्द भी 'ऐंग्लो-इंडियन' है, 'विल' में स्त्री की मधुरता और 'डू' में पुरुष की कठोरता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।...प्रारम्भ में 'विल्डू' शब्द व्यक्ति वाचक था, अर्थात् हम एक विशेष व्यक्ति को, उसकी पीठ के पीछे, इस नाम से सम्बोधित करते थे। परन्तु कालान्तर में उन जैसा प्रत्येक व्यक्ति 'विल्डू' कहा जाने लगा।'

लेखक की दृष्टि विल्डू साहब के विशेष व्यक्तित्व पर केन्द्रित रही है अतः यहाँ एक स्थिर चरित्र के रूपांकन में उन्हें सहज सफलता प्राप्त हुई है। 'विल्डू साहब' व्यंग्य-चित्र की अग्रभूमि (Foreground) भी बहुत आकर्षक है। विल्डू साहब में माता धोबिन से हीनता के संस्कार और ठाकुर पिता की शेखी नस-नस में व्याप्त थी। विल्डू साहब की संभावना देखिए—

"आज भी यदि आप प्यारेलाल की दुकान से डाकखाने वाली गली में होकर घटिया मुहल्ले तक दो-तीन बार आवें-जावें और किसी दुकान के बाहर दो झुकी कमरवालों की बातचीत चुपचाप सुनें तो शायद कलियुग का वर्णन करते हुए वे एक ऐसे धोबी का प्रसंग चलावें जो कई वर्ष तक सुन्दर होटल में पंडित बनकर रहता रहा...फागुन के महीने में किसी की कीचड़ से मरम्मत होती देखकर आज भी कुछ लोग 'विल्डू हैं रे' की चीख जैसी आवाज लगा देते हों तो आश्चर्य नहीं।' पाठक यदि आगरा न भी गये हों तो उन्हें निराश नहीं होना चाहिए क्योंकि विल्डू साहब उनके आस-पास कहीं भी आविर्भूत हो सकते हैं। इस प्रकार विल्डू साहब प्रतिनिधि पात्र अथवा प्रतीक पात्र (Symbolic character) के व्यक्तित्व की संभावना रखते हैं। शैली की दृष्टि से लेखक का यह प्रतिनिधि व्यंग्य-चित्र माना जा सकता है।

'किराये के घर' में व्यंग्य सपाट और सतही है। उसमें वक्रता की गति कम और घटना की स्थिरता अधिक है। 'मध्यांतर' में कालेज के तथाकथित अध्यापकों को स्टाफ-रूम में बैठे हुए बकवास रूपी जुगाली करते हुए दिखाया गया है। कैसे किसी महत्वपूर्ण विषय से फिसल कर बात आरम्भ होती है और अंत में नारी के प्रति, विशेषकर छात्राओं के विषय में अवचेतन में छिपी कुंठाओं के रूप में, छितर जाती है। आज की व्यवस्था में हमारे अध्यापकों के मानसिक स्तर की झलक रोचक बनी है। 'जुलाई का दिन' में पार्श्वभूमि दिल्ली महानगर की तीव्रगति से दौड़ते जीवन की आपाधापी है। चित्र-पटल पर समानान्तर दौड़ती बस का दृश्य उभारा गया है। बस कंडक्टर छात्र-छात्राओं तथा बस-यात्रियों के व्यवहार का यथार्थ रूप गत्यात्मक बिम्बों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। 'वापसी' में फिर एक बार पार्श्व-भूमि आगरा में केन्द्रित हो गई है। आगरा और कलकत्ते के सन्दर्भों के बीच कुछ दृश्य हैं। आगरा के काव्यमय वातावरण की एक झलकी प्रस्तुत की गई है। कवियों की मनोवैज्ञानिक रेखाओं को खींचा गया है। सस्ते प्रकार की रोमांटिक कविताओं में यह रूप भास्वर हो उठा है। इन

रेखा-चित्रों के अतिरिक्त 'हिन्दी-टीचर', 'मेरे धर्मपिता', चिट्ठीरसा'. 'छोटे बाबू', 'चाय के साथ' हेड क्लर्क साहब भी रोचक व्यंग्य-चित्र हैं।

इन सभी १४ व्यंग्य-चित्रों में व्यक्तित्व के अनेक मनोवैज्ञानिक पहलू लम्बाई और चौड़ाई के रूप में उभारे गये हैं। कहीं-कहीं व्यक्ति-चरित्र को घटनाओं के आलोक में भी प्रकट किया गया है जहाँ पात्र की बाह्य आन्तरिक समग्रता प्रकट की गई है।

इन चित्रों में अनुभूति की प्रामाणिकता एकात्मक रूप, चरित्रगत विशेषताओं का उभार और व्यंजना-शक्ति सर्वत्र मिलेगी। शब्दरूपी रेखाओं के सधे हुए प्रयोगों से डाक्टर ओमप्रकाश जी की विशिष्ट शैली ने इन व्यंग्य-चित्रों को सजीवता प्रदान की है।

—डॉ० मुहम्मद अयूब खाँ

मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य में विरह भावना : लेखक—डा० वी० एन० फिलिप; प्रकाशक—**संगम** प्रकाशन, इलाहाबाद;

मध्यकाल के भक्तिकाव्य की केन्द्रीय भावना प्रेम है जिसमें 'विरह' को अत्याधिक उन्नत एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस दृष्टि से इस विषय का विवेचन भक्तिकालीन-काव्य की प्रेरणा को उजागर करने में सहायक होता है। डा० वी० एन० फिलिप का ३५२ पृष्ठों का यह शोध प्रबन्ध भक्तिकालीन विरह को विभिन्न संप्रदायों के अंतर्गत एवं विभिन्न कवियों के माध्यम से विश्लेषित करता है जैसे संतकाव्य में विरह भावना—कबीर की विरह भावना, दादू की विरह भावना, अन्य संत कवियों के विरह वर्णन, सूफी काव्य में विरह भावना—कुतुबन, जायसी, जायसी के परवर्ती कवियों की विरह भावना, राम-भक्ति काव्य में विरह भावना—तुलसी की विरह भावना, कृष्ण भक्ति काव्य में विरह भावना —सूर, अष्टछाप के कवियों की विरह भावना आदि। इस रूप में यह भक्ति काव्य की चतुर्दिक सीमाओं को अपने वृहत पटल में समेट लेता है और उनके काव्य में क्रियाशील विरह प्रेरणा को सांगोपांग रूप से प्रस्तुत करता है। विरह के विवेचन में विस्तार है, विश्लेषण की दृष्टि है किन्तु भक्ति कालीन विरह की गहराई और अनुभूति की सूक्ष्मता का बोध हाथ से छूट गया है। अध्ययन वैज्ञानिक है किन्तु संवेदनाओं के प्रच्छन्न धरातल तथा साहित्यिक प्रतिभा के रचनात्मक एवं सर्वकालिक तत्वों से अपने को संयुक्त नहीं कर सका है। विवेचन शास्त्रीय पद्धति पर हुआ है, जो कि भक्ति काल के संदर्भ में सटीक और उपयुक्त अवश्य है, पर काव्य संचेतना में सही अनुभव की पकड़ से फिसलता चलता है। मीरा, रसखान, सूर, जायसी के संदर्भ में विरह के तात्विक विवेचन से अधिक महत्वपूर्ण उसका आध्यात्मिक अनुभवन है, जिससे 'भक्ति कालीन विरह' भक्ति से भिन्न काव्य में व्यक्त विरह से अलग निजस्वरूप बनाता है। इस निजी विशिष्टता की पहिचान लेखक की विवेचन शैली में शायद ही कहीं हो पाती हो। वैसे विरह को वात्सल्य तक ले जाकर या उसके शारीरिक एवं मानसिक पक्षों में विश्लेषण करने से विषय को व्यापकता प्रदान की गई है और कुछ नवीन उद्‌भाविका-शक्ति का परिचय भी मिलता है।

यह मूल प्रतिपाद्य तृतीय अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक चलता है। सप्तम

और अंतिम अध्याय में भारतीय साहित्य में विरह भावना और भक्ति काल के परवर्ती साहित्य पर इसका प्रभाव विवेचित हुआ है। मेरे विचार से भारतीय साहित्य में विरह भावना को मूल थीसिस की शुरूआत के पहले ही लेना चाहिये था और यह खोजना चाहिये था कि इस विरह वर्णन ने भक्ति काल की काव्य-चेतना को कितना और किन दिशाओं में प्रभावित किया। संस्कृत और अपभ्रंश में विरह-काव्य की परम्परा भक्तिकाल में प्रभूत रूप से ग्रहीत हुई जिसका उल्लेख इस प्रबन्ध में नहीं हुआ है। भक्तिकाल के परवर्ती साहित्य पर इसके प्रभाव से ज्यादा प्रासंगिक होता स्वयं भक्तिकाल पर इसके प्रभाव को आंकना। वैसे यह अध्याय वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक काल (मुख्यतः छायावादी काव्य) तक विरह वर्णन का इतिवृत्त प्रस्तुत करके एक स्वतंत्र निबन्ध बन जाता है बजाय संपूर्ण प्रबन्ध का सार्थक अंश होने में सार्थकता की दृष्टि से उपसंहार अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें भक्ति कालीन विरह की विशेषताओं का मूल्यांकन करते हुए उसकी आध्यात्मिकता और शैलीगत विशिष्टता को देखा परखा गया है 'मध्ययुगीन विरह भावना का प्रभाव क्षेत्र' भी परवर्ती काव्य पर पड़े हुए भक्ति कालीन विरह-भावना के प्रभाव को सम्यक् रूप से उद्‌घाटित करता है, किन्तु मूल काव्यांशों के अभाव में मात्र प्रस्थापना से संवेदन का मूर्त-रूप नहीं उभर पाया।

थीसिस के प्रारंभिक अध्याय 'विरह भावना : स्वरूप और सिद्धान्त', तथा 'विरह भावना की धार्मिक मान्यता' महत्वपूर्ण हैं। प्रेम-विरह, प्रेम-सौन्दर्य, प्रेम-काम, श्रृंगार रस आदि पर विस्तार से विचार किया गया है। 'विरह भावना और उसके अंगों का अध्ययन' की काफी पुष्टि है। कहीं-कहीं मौलिक निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये गये हैं : "यह सर्वविदित बात है कि जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ प्रेम है और प्रेम का परिपाक विरह में ही है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि सौन्दर्य और विरह का अन्योन्याश्रय संबंध है।" सौन्दर्य और विरह से इस मानसिक एकात्म पर कम ही लोगों की दृष्टि जाती है, सौन्दर्य को अधिकांश लोग श्रृंगार के संयोग पक्ष से जोड़ कर उसके प्रति भोग-दृष्टि को ही उजागर करते रहे हैं, उसके द्वारा चित्त के संस्कार को नहीं। विश्व के नाना धर्मों के संदर्भ में 'भक्ति भावना और श्रृंगार वर्णन' को देखा परखा गया है, अंत में उसकी परिणति 'विरह की आध्यात्मिकता' में हुई है। लेकिन यह निष्कर्ष पूरी तरह सही नहीं है : "इसलिये सभी धर्मों में विरह को रहस्य-वाद से सामंजस्य करके उसे बड़ा महत्व प्रदान किया गया है।" कृष्ण भक्ति काव्य में कोई रहस्यवाद नहीं है, किन्तु उसमें विरह की जो महिमा उद्‌घटित हुई है वह किसी भी रहस्य-वादी विरह की तुलना में कम नहीं है। राम भक्ति एवं कृष्ण भक्ति में 'रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति' खोजना (पृ० ७९) लेखक की दृष्टि-दोष ही कहा जायगा।

यों, शोधप्रबंध ने अपने विविध अध्यायों में विरह को अनेकान्त परिपार्श्व से देख कर विषय का व्यापक रूप प्रस्तुत किया है। उसे न केवल हिन्दी भक्ति काव्य के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है बल्कि विश्व की प्रसिद्ध भाषाओं के माध्यम से भी उसकी सार्वभौमिकता को आँका गया है जो प्रबन्ध को पुष्ट करता है। अहिन्दी भाषी लेखक के इतने अध्ययन और

मनन का हिन्दी में प्रस्तुतीकरण प्रशंसनीय है। एकाध जगह भाषा संबंधी भूल खटकती है जैसे 'धीमी झलक' (पृ० १) 'परन्तु जब तक यह काम. . .तब तक वह प्रज्वलित प्रेम भावना नहीं जाती।' (पृ० १४), 'वस्तुतः काम मानव जीवन से अत्यन्त मिला-जुला है', (पृ० १६) 'शृंगार की सरस धारा शीघ्र गति में प्रवाहित है (पृ० ३४) आदि, पर इन्हें अनदेखा किया जा सकता है, और इनसे प्रबन्धकार बाधित नहीं होता।

—डा० मीरा श्रीवास्तव

हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

भगवान महावीर : लेखक—श्री शिवशंकर त्रिपाठी; पृष्ठ संख्या ६९, प्रकाशक—लोकायन, दारागंज, इलाहाबाद। मूल्य—अजिल्द तीन रुपये, सजिल्द ६ रुपये।

पाँच सर्गों में विभक्त यह खण्डकाव्य भगवान महावीर के जीवन के अलौकिक उदात्त सन्दर्भों को उजागर करता है। बालोपयोगी काव्यकृति के कृतिकार कवि श्री शिवशंकर त्रिपाठी हैं। इस खण्डकाव्य में यत्र तत्र गतियति भंग छंद दोष खटकते हैं। त्रिपाठी जी विज्ञ रचनाकार हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें काव्य रचना का कौशल ज्ञात नहीं है, लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि त्रिपाठी जी अपने रचनाकार के दायित्व के प्रति असावधान रहे यदि रंचमात्र सावधानी बरती जाती तो भगवान महावीर के जीवन के यह प्रेरक प्रसंग और अधिक ललित रूप में उजागर होते, क्योंकि त्रिपाठी जी की रचना-क्षमता उनकी सामर्थ्य में किसी भी सुधी समीक्षक को सन्देह नहीं हो सकता।

इन्द्रधनुष : लेखक—मुनि रूपचन्द्र; पृष्ठ संख्या १०१; प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, दिल्ली।

प्रस्तुत पाकेट बुक में कवि ने अपनी १०१ चतुष्पदियों को संग्रहीत किया है। इन चतुष्पदियों में अपने परिवेश की तल्खी पूरी शिद्दत के साथ अभिव्यक्त हुई है। उदाहरण के लिये निम्नांकित चतुष्पदी पर्याप्त होगी।

'जिसने खुद बर्बाद होकर देश को आजाद किया,
जिसने खुद कुर्बान होकर देश को आबाद किया,
वह जनता उन खुदपरस्त नेताओं को बख्शेगी नहीं,
जिन्होंने कुर्सी के लिये, इस देश को बर्बाद किया।

मुनि रूपचंद्र जी की दूसरी पाकेट बुक 'खुले आकाश में' में उनकी अन्य १०१ चतुष्पदियाँ संग्रहीत हैं। इन चतुष्पदियों में भी मुनिरूपचंद्र जी के कवि ने अपने वैचारिक धरातल के स्तर को सुरक्षित रखते हुए समसामयिक सन्दर्भों के उन बिन्दुओं को साहस के साथ अभि-व्यक्ति दी है, जिसके लिए सामान्यतया आज का रचनाकार कतराकर निकल जाने में ही अपना कौशल और अपनी कुशल मानता है। किन्तु यहाँ भी एक कष्टकर सन्दर्भ है और वह यह है कि तथ्य इतना सम्पन्न होते हुए भी गति यति छंद दोष के कारण वह प्रभावहीन हो जाता है। या तो हम छंद और तुक आग्रह को स्वीकार ही न करें और यदि स्वीकार करते हैं तो उनकी मर्यादाओं के निर्वाह की भी अपेक्षा हम कवि से करते हैं।

भीड़ भरी आँखें : लेखक—मुनि रूपचंद्र; पृष्ठ संख्या ६४; प्रकाशक—श्रीमती इन्दिरा देवी सेठिया, कलकत्ता। मूल्य १० रुपए।

प्रस्तुत संग्रह में कवि की ५६ कवितायें संग्रहीत हैं। इस संग्रह का 'भरतवाक्य' भूमिका में दिया गया है। 'दुर्भाग्यवश आज कवियों में सन्त और सन्तों में कवि नहीं दिखाई दे रहे हैं' शायद यही कारण है कि 'ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर' जैसी निष्पक्षता का अभाव है और रचनाकार अनुभूत सत्य को अभिव्यक्ति देने में सायास कतरा जाता है। इस संग्रह की कविताओं में से चुनी हुई कवितायें कवि ने अपने अगले संग्रह 'भूमा' में दी हैं।

भूमा : लेखक—मुनि रूपचंद्र; पृष्ठ संख्या ९६; प्रकाशक—चैनरूप नौलखा, कलकत्ता–१; मूल्य ५ रुपया।

प्रस्तुत संग्रह में मुनि रूपचंद्र जी की अद्यतन कविताओं में से कुछ कवितायें दी गयी हैं। उनकी पूर्व प्रकाशित कृतियों 'अंधा चाँद', 'कला अकला', 'अर्धविराम' तथा 'भीड़ भरी आँखें' में से बासठ कवितायें चयित हैं। उत्तरोत्तर कविधर्म कठिन एवं दुरूह होता जा रहा है। मुनि रूपचंद्र का कवि इन रचनाओं में सर्वाधिक समर्थ उदात्त रूप में उजागर हुआ है। तात्कालिक सन्दर्भों को कवि ने अपने कालजयी संस्पर्श से एक शाश्वत सन्दर्भ दे दिया है। समर्थ रचनाकार बार-बार अपनी ही प्रतिभा मंजित करता है। कवि कहता है—'मैं हर बार अपने को नकारता रहा हूँ।' क्योंकि कवि 'श्रद्धा की गायों' को 'कुण्ठा के खूंटों' से बाँधने से इनकार करता है, उसे विश्वास है कि वे अपनी 'भटकन' के माध्यम से स्वयमेव 'घर का रास्ता' पा जायेंगी।

'फूल के द्वार पर खड़ी कली के
खिलने पर पहरा
कितना दर्द सहा जा सकेगा?'

समसामयिक सन्दर्भों की चित्रात्मक अभिव्यक्तियाँ सबल प्रतीकों के माध्यम से दी गयी हैं, कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'दिन बदिन कम होते जा रहे हैं कुत्ते इस नगर में
भेड़ियों की संख्या बढ़ रही है
केवल उन्हीं कुत्तों को छोड़ दिया गया है जीने के लिये
जो हो गये हैं पालतू इन भेड़ियों के।'

× × ×

'आज एक और सूरज को
फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया
अभियोग यह था उस पर कि
हमारे रोशनदानों, खिड़कियों और दरवाजों में जबर्दस्ती घुसकर
उसने अशिष्टता का परिचय दिया।'

× × ×

'तुम मुझे सवाल के लिये उकसरा रहे हो
किन्तु, तुम्हारे पास कोई जवाब भी है?'

× × ×

'बन्द दरवाजों की जकड़,
और और मजबूत होती जा रही है
हम होते जा रहे हैं दिन-ब-दिन बौने।'

× × ×

उस इतिहास को गढ़ने में
मैं तुम्हारे साथ शरीक नहीं हो सकता,
जिसे तुम थूक से लिखना चाहते हो
खून से नहीं।'

'भीड़ भरी आँखें' संग्रह से एक और उदाहरण देकर अपनी बात आगे बढ़ाना चाहूँगा—

'फुसलाया जा रहा है ढेर सारे पत्थरों को
नींव में गिर जाने के लिये।'

इन संकलनों में सर्वाधिक समर्थ रचना में मुझे 'कुन्नूर' और 'नीलगिरि की उपत्यकाओं के माध्यम अभिव्यक्त सन्दर्भों को प्रस्तुत करने वाली रचनायें लगीं। 'भूमा' के कवि ने कवि कर्म को पूरे दायित्व बोध के साथ वहन किया है। इसलिये निश्चय ही वे हमारे अभिनन्दन के पात्र हैं। समीक्षित सभी पुस्तकों की छपाई-सफाई-गेटअप आकर्षक हैं।

—उमाकान्त मालवीय
महावीरन गली, प्रयाग

वाणी : लेखक—कर्ण० राजशेषगिरि राव; प्रकाशक—आन्ध्र भारती प्रकाशन मन्दिरम्, जाण्ड्रपेटा, चीराला (आन्ध्र प्रदेश)। मूल्य १ रुपया।

प्रकृत पुस्तिका संस्कृत-पद्यों में लिखी गई है। इसका रचयिता उदीयमान संस्कृत-कवियों में अन्यतम है। इसमें ११ शीर्षकों में कुछ अनुष्टुप्छन्दोमयी कविता एवं संस्कृतेतर भाषा की शैली पर रची कुछ छन्दोविहीन कविता भी सम्मिलित की गई है। इसकी भाषा सरल, सुगम एवं प्राञ्जल है। शैली रोचक है। किन्तु भाषा की शुद्धता की ओर कवि को अधिक ध्यान देना चाहिए। आशा की जाती है कि रावजी इसी प्रकार अन्यान्य पुस्तकें लिख कर संस्कृत भारती की अधिकाधिक सेवा करेंगे।

पत्रकौमुदी : लेखक—श्री वररुचि; सम्पादक—श्रीमन्नारायण द्विवेदी; प्राप्ति-स्थान—साहित्यवाणी, गोसाईं टोला, इलाहाबाद। मूल्य ३ रुपया।

संस्कृत में लिखित 'पत्रकौमुदी' एक छोटी-सी पुस्तिका है। इसमें पत्र-लेखन-प्रकार, पत्र-पठन, पत्र-चिह्न, प्रशस्तिपद-विन्यास, कीर्तिवर्णन-श्लोक, प्रीतिश्लोक, नीतिश्लोक आदि विविध विषयों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसके प्रशस्ति-पत्र बड़े ही भव्य एवं सुरम्य हैं। इनका आज भी उपयोग किया जा सकता है। सार्वजनीन बनाने के उद्देश्य से अधीती

सम्पादक ने संस्कृत-वाक्यों का हिन्दी रूपान्तर भी इसमें प्रस्तुत कर दिया है। हिन्दी में लिखित इसकी सम्पादकीय भूमिका एवं परिशिष्ट के दो लेख पठनीय हैं। पुस्तक की छपाई-सफाई आदि सुन्दर हैं। हाँ, संस्कृत की कतिपय अशुद्धियों को दूसरे संस्करण में अवश्य दूर कर देना चाहिए।

सम्पादक का प्रयत्न श्लाघनीय है और यह पुस्तक सर्वथा संग्रहणीय है।

श्रीभागवतदर्शन (भगवती कथा) खण्ड ११० से ११३ तक (४ भाग)। लेखक---श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी; प्रकाशक---संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूंसी) प्रयाग; मूल्य---प्रत्येक भाग---तीन रुपये।

श्रीभागवतदर्शन ब्रह्मचारी जी का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके अनेकानेक भाग निकल चुके हैं, जिनमें विविध विषयों पर ब्रह्मचारी जी ने अपनी यशस्विनी लेखनी को प्रवर्तित किया है। उन सब के अध्ययन से भारतीय संस्कृति और धर्म का अगाध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

प्रस्तुत खण्डों में महामुनि बादरायण-प्रणीत 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या की गई है। ब्रह्मसूत्र वेदान्तदर्शन का मौलिक ग्रन्थ है। इस पर अष्टम शती में भगवान् आद्य शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य लिखा, जो विद्वानों का आदर-भाजन है। इस शांकर-भाष्य पर नवम शती में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र मैथिल वाचस्पति मिश्र ने जो भामती नामक टीका लिखी, उसे विद्वत्समाज ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उक्त भाष्य एवं टीका द्वारा अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की गई है। उनके बाद ११वीं शती में विशिष्टाद्वैतमत के संस्थापक श्रीरामानुजाचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' पर श्रीभाष्य लिखा, वह भी विद्वानों में बहुत आदरणीय है। फिर तो कई आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र एवं उसके भाष्यों पर अपने-अपने ढंग से कई टीका-टिप्पणियाँ प्रस्तुत कीं। उसी परम्परा में श्री ब्रह्मचारी जी ने भी प्रक्रान्त खण्डों में उक्त ग्रन्थरत्न के कतिपय सूत्रों की विशद एवं मनोहारिणी व्याख्या करके उन्हें सर्ववेद्य बनाने का प्रयास किया है। यदि इसी प्रकार ब्रह्मचारी जी समस्त सूत्रार्थों की व्याख्या प्रस्तुत कर दें तो यह हिन्दी-जगत् के लिए एक बहुत बड़ी देन होगी।

(१) खण्ड ११० में ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद के पहले सूत्र से लेकर चतुर्थ पाद के १२वें सूत्र तक का अर्थ किया गया है।

(२) खण्ड १११ में चतुर्थ पाद के १३वें सूत्र से लेकर द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के दूसरे सूत्र तक की व्याख्या प्रस्तुत है।

(३) खण्ड ११२ में द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के तीसरे सूत्र से लेकर तृतीय पाद के १८वें सूत्र तक अर्थ-वैशद्य प्रदर्शित है।

(४) खण्ड ११३ में द्वितीय अध्याय---तृतीय पाद के १९वें सूत्र से लेकर चतुर्थ पाद के २२वें सूत्र तक अनुव्याख्यात हैं।

किन्तु उक्त खण्डों में यत्र-तत्र प्रूफ-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के हुए प्रमाद निराकरणीय हैं। उदाहरणार्थ---खण्ड ११३ के एक ही पृष्ठ पर 'मनस् आदि' अथवा 'मन आदि' की जगह 'मनादि' लिखना नितान्त व्याकरणाशुद्ध है। फिर 'मनसश्चेन्द्रियाणां' की जगह 'मनसश्चेन्यिणां'

और 'पंचभूतों' की जगह 'पंतभूतों' आदि छप जाना क्या है? इसी प्रकार 'जीवात्मा नित्य ही है' शीर्षक एक ही व्याख्या खण्ड ११२ और खण्ड ११३ में भी प्रविष्ट कर दी गई है। इत्यादि।

—तारिणीश झा

मीरागली, दारागंज, प्रयाग

उसका घर (उपन्यास) : लेखक—मेहरून्निसा परवेज़, पृष्ठ १६६, प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, मूल्य—६ रुपये मात्र।

मेहरून्निसा परवेज़ उन महिला लेखिकाओं में से हैं जिन्होंने गत सात-आठ वर्षों में अपने समर्थ लेखन के माध्यम से हिन्दी कथा-साहित्य में एक विशेष स्थान बनाया है। कहानियाँ उन्होंने बहुत लिखी हैं। पर उपन्यास-लेखन में 'आँखों की दलहीज़' के बाद यह उनका दूसरा प्रयास है।

'उसका घर' में इसाई-परिवार की कथा के माध्यम से इसाई संस्कृति को रेखांकित किया गया है। इस अर्थ में उपन्यास में कोई नयापन नहीं है क्योंकि इस तरह के और भी प्रयास हुए हैं। यही नहीं, प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' उपन्यास की मिसेज़ सेवक और सोफिया की हूबहू छवि 'उसका घर' की आंटी और रेशमा में मिलती है। किन्तु इसाई सभ्यता, रहन-सहन और आचार-विचार को दर्शाना ही लेखिका का मन्तव्य नहीं है। यह तो उपन्यास का ऊपरी ढांचा है। उपन्यास का मूल स्तर तो कुछ और ही है। वास्तव में इस उपन्यास में दो कथाएं साथ-साथ चली हैं। एक संपूर्ण परिवार की कथा है जो नयी मान्यताओं और नये परिवेश में टूट रहा है, बिखर रहा है और दूसरी ओर एक व्यक्ति ऐलमा की कथा है जो इस नये परिवेश और टूटने में अपने आप को भौचक्का, सहमा, सहमा और अशक्त महसूस करता है। परिवार और व्यक्ति के टूटने-बिखरने को स्वर देने के लिए लेखिका इसाई-समाज के फलक के अलावा कोई और परिप्रेक्ष्य अपना सकती थी, तो भी कोई अंतर नहीं आता। क्योंकि यह टूटना-बिखरना आज हर धर्म और हर स्तर के समाज में घट रहा है। कदाचित् इसाई-परिवार के परिप्रेक्ष्य में अपने कथा को स्वर देना मेहरून्निसा को अधिक सुविधाजनक लगा हो।

लेखिका के सम्बन्ध में प्रशंसनीय बात यह है कि १६६ पृष्ठ के इस लघु आकार उपन्यास में कथा का कोई भी आयाम, परिप्रेक्ष्य का कोई भी कोना उनकी कलम से नहीं छूटा. चाहे ऐलमा के तलाक वाला प्रसंग हो, चाहे आंटी और रेशमा का चीखना-चिल्लाना, चाहे भय्या-भाभी का व्यवहार हो, चाहे सोफिया की कहानी, चाहे आहूजा वाला प्रसंग हो, चाहे पादरी और चर्च की बात—सभी ने उपन्यास के अर्थ को स्वर दिया है। फल और आज की स्थिति को रेखांकित करने के लिए आंटी का विधवा होकर भाई के घर साधिकार रहना और भाई का बहन का उत्तरदायित्व सहर्ष उठाना, ऐलमा का पापा के साथ बिताये क्षणों की याद आदि का उल्लेख भी सार्थक ही है।

'उसका घर' दो स्तरों पर मन को छूता है। एक ओर परिवार और ऐलमा के टूटने की कहानी मन को मर्मान्तिक पीड़ा से भर देती है, तो दूसरी ओर नयी सभ्यता में पनपी परायेपन और संकुचित स्वार्थ की भावना आज की स्थिति का तीव्र रूप से अहसास कराती है। आज

आपसी संबंध स्नेह और सौहार्द के नहीं रह गए वरन् उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में देखे जाने लगे हैं। 'उसका घर' के भय्या के लिए आंटी और रेशमा की उपयोगिता नहीं है। ऐलमा की उपयोगिता है क्योंकि वह उसके बॉस को प्रसन्न कर पैसा कमाने का साधन बनती है। इस तरह मानवीय भावनाओं की हत्या, आपसी संबंधों का विघटन, पारस्परिक स्नेह और सौहार्द का कम होते जाना एक ऐसे भाव को जन्म देता है, जिस स्थिति में घर कभी अपना नहीं लगता वरन् ऐसा लगता है कि यह घर किसी और का है—'उसका घर' है, अपना घर नहीं। उपन्यास के सभी पात्र चाहे वह आंटी हों या रेशमा, ऐलमा हो या भय्या-भाभी, सभी में परायेपन की भावना घर कर जाती है। ऐसी स्थिति में घर टूटना ही है। सभी के मन से जब घर का मोह, घर का लगाव चुक जाता है, तब सभी चाहने लगते हैं कि इस घर से जल्द-से-जल्द छुटकारा मिल जाय, मुक्ति मिल जाय। सभी अपनी-अपनी स्थिति में छटपटाते हैं। अपनत्व की भावना के मिटने पर उदासीनता और परायापन बढ़ जाता है। एक दूसरे के पास उठना-बैठना और बातचीत में केवल औपचारिकता मात्र रह जाती है। सम्मिलित परिवार की आखिरी कड़ी आंटी के मरने के बाद तो जैसे यह औपचारिकता भी चुक जाती है। मेहरून्निसा की अभिव्यंजनापूर्ण भाषा-शैली ने इस परायेपन के बोध को जो स्वर दिया है वह बेहद मर्मान्तक और तीखा है—"आंटी के मरने के बाद घर ऐसा लगता था जैसे रेलवे प्लेटफार्म हो और घर के लोग ट्रेन के छूट जाने पर हताश से छूटे हुए यात्री से बैठे हों और दूसरी गाड़ी का इंतजार है। घर अब रेलवे प्लेटफार्म लगता था जल्दी ही जो छूटने वाला है।" इस तरह 'उसका घर' सम्मिलित परिवार और व्यक्ति की टूटन को उस परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत नहीं करता जो मौखिक लड़ाई झगड़ों और ईर्ष्या-द्वेष के कारण टूटते थे। 'उसका घर' आधुनिक सभ्य समाज के उस मुखौटे की ओर भी संकेत करता है, जो ऊपर की टीमटाम और सभ्य व्यवहार के रहते हुए भी भीतर से कटु, मतलबी और बेगाना हो चुका है। यह कचौट मौखिक कटु व्यवहार से कहीं अधिक तीखी है।

'उसका घर' के लिए निश्चय ही महरून्निसा बधाई की पात्र हैं।

ग्रामलक्ष्मी (उपन्यास): लेखक—पीताम्बर पटेल, प्रकाशक: आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। मूल्य ७ रुपए मात्र।

'ग्रामलक्ष्मी' गुजराती के प्रख्यात कथाकार पीताम्बर पटेल के 'केवड़िया नो कांटों' उपन्यास का हिन्दी अनुवाद है। किसी भी कृति का दूसरी भाषाओं में अनुवाद प्रायः तभी होता है, जब उसमें कुछ विशेष और महत्त्वपूर्ण अंकित हो। 'ग्रामलक्ष्मी' गुजरात के ग्रामीण-जीवन को अंकित करने वाला उपन्यास है। किन्तु इसे किसी प्रदेश विशेष तक सीमित आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। वास्तव में 'ग्रामलक्ष्मी' समूचे भारतीय ग्रामीण जन-जागृति और जन-जीवन के बदलाव का प्रतिनिधित्व करने वाला उपन्यास है।

शहरी सभ्यता की तड़क-भड़क गाँवों में घुसपैठ रही है। इससे ग्रामीण नवयुवक-समाज ही नहीं पुरानी पीढ़ी का वहुतांश भी प्रभावित है। इसी तड़क-भड़क का परिणाम है कि अनैतिक ढंग से रुपया कमाने की हविस और आपा-धापी पनप रही है। इस विकृति और विघटन को 'ग्राम-लक्ष्मी' वड़े सशक्त ढंग से उजागर करता है।

किन्तु यह ग्रामीण-जीवन का एक प्रश्न है। ग्रामीण जीवन का दूसरा पक्ष है, वहाँ जागी नवचेतना। गांव में चारों ओर नव-जागृति के चिह्न नजर आ रहे हैं। गाँव के लोगों को अब पहले की तरह नहीं दबाया जा सकता। उन पर मनमानी नहीं की जा सकती। अब उनमें अन्याय, अंधविश्वास और आडम्बरों का विरोध करने की अटूट शक्ति और सामर्थ्य भर गयी है। अपना सही मुखिया और ग्राम प्रधान चुनने का निर्णय अब वे अपने हाथ में ले रहे हैं। गाँव के अकल्याणकारी और विषाक्त तत्त्वों से लोहा लेने में अब वे पीछे नहीं हैं। गाँव की स्त्री भी अब ग्रामलक्ष्मी का रूप धारण कर रही है। इस तरह ग्रामलक्ष्मी आने वाले कल की तस्वीर हमारे सामने रखती है। आने वाला कल आशाओं का है, निर्माण का है—विध्वंसकारी प्रवृत्तियों के दमन का है। इस रूप में श्री पीताम्बर पटेल भविष्य द्रष्टा और पथप्रदर्शक भी हैं।

किन्तु 'ग्रामलक्ष्मी' का कथ्य जितना सशक्त है, उसका शिल्प उतना समर्थ नहीं है। शिल्प में पुरानेपन की वास है। परिच्छेदों के शीर्षक उपन्यास का सब से कमजोर पक्ष है। इन शीर्षकों से आगे की कथा पहले ही खुल जाती है। फिर भी कुल मिला कर 'ग्रामलक्ष्मी' एक सफल उपन्यास है।

—डा० कुसुम वार्ष्णेय
हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

द्वासुपर्णा : लेखक—शकुंतला भार्गव 'अर्चना', गद्यगीत संग्रह, प्रकाशक—प्रदीप प्रकाशन, अजमेर, मूल्य ६ रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक दो खण्डों में है—तमिस्रा और उन्मेष। मुण्डकोपनिषद् में वर्णित श्लोक में द्वासुपर्णा दो पक्षी हैं, जीवात्मा और परमात्मा। एक ही वृक्ष-शरीर पर ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। जीवात्मा इस वृक्ष से कर्म फल खाता है किन्तु परमात्मा रूपी पक्षी निराहार रहता है किन्तु तृप्त है। इसी भावाधार पर पुस्तक की आत्मा केन्द्रित है।

जीवात्मा तमिस्रा-पथ पर यात्रा करता हुआ उन्मेष अर्थात् परमात्मा तक पहुँचने का लक्ष रखता है।

पुस्तक के दो खण्डों में विभाजित होने पर भी एक से भावों की रचनाएँ ही हैं। दोनों के मध्य कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। आत्मा रूपी प्रेमिका का परमात्मा प्रिय से प्रणय निवेदन, वियोग का दुःख, संयोग की सुखद कल्पना आदि भावों पर द्वासुपर्णा के गद्यगीतों की सफल रचना हुई है।

तमिस्रा की अनुगता रचना में—मुझे प्रिय के पास पहुँचना था न! मूर्ति पास है। छूने को हाथ फैलाए। पर दुर्भाग्य, ठोकर खाकर गिर पड़ी। वह तो एक ठूँठ था।

जीवात्मा अपने प्रिय परमात्मा को पाने के लिए सतत प्रयत्नशील हो कर आगे बढ़ता है। थकता है, निराश होता है, गिरता है, पुनः उठ कर बढ़ता है। मृग मरीचिका में भटकता है किन्तु फिर भी आशा का छोर पकड़े रहता है। नारी-मन की सहज कोमल भावनाओं का सुन्दर,-दिग्दर्शन हुआ है, इन गद्य गीतों में।

यौवन, जरा, छल, ज्ञान आदि विभिन्न स्थितियों का इनमें वर्णन है। गहन चिन्तन

और गंभीर भावों का निरूपण है। अध्यातम चिन्तन अर्चनाजी की रचनाओं में सर्वत्र दृष्टिगोचर है। शैली में कलात्मकता है।

फूल प्राप्ति के प्रयत्न में काँटों की चुभन सामान्य है, मानव को इसके लिए तत्पर रहना है।

जीवन की सारी दौड़ मृगतृष्णा के समान है।

ज्ञान एक आकर्षक वस्त्र है जो मनुष्य प्रदर्शन के लिए पहिनता है। तथा

यौवन का विद्रोह मर जाने पर उसकी आग ठण्डी पड़ जाती है और जरा का आगमन होता है।

भाषा सरल और ग्राह्य है। भावों में गंभीरता का पुट है।

विबोध : (कविता संग्रह), लेखक—श्री जनार्दन प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—साहित्य संगम, सीवान (सारन)। मूल्य रु० २.९५।

कवि का कथन है कि भाव और शिल्प की दृष्टि से यह संग्रह दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में गीत हैं और दूसरे में अगीत। किन्तु वास्तव में जिन्हें गीत कहा गया उसमें भी अगीत हैं और अगीत में अनेक लयबद्ध कविताएं हैं।

गीत खण्ड में कवि के छात्र जीवन की कृतियाँ संग्रहीत हैं। लगता है उस काल की रचना से कवि को अत्यधिक मोह है। इसी कारण छन्द भंग, अर्थ दोष, भाषा में वाक्यादि दोषों से भरी रचनाओं को भी प्रकाश में लाने का मोह रचनाकार नहीं छोड़ सका है।

उदाहरणार्थ—कुर्सी पर बैठा हूँ—टेबल का तकिया सहमाल कर। शब्द—सँभाल है, सहमाल नहीं। टेबल का कोई तकिया नहीं होता, पलंग का तकिया होता है। इसी प्रकार आवो, गावो, उपजावो, ओढ़ा, उबकई आदि वर्तनी की त्रुटियाँ भी अनेक स्थल पर द्रष्टव्य हैं।

वाक्य और व्याकरण दोष भी स्थल-स्थल पर मिलते हैं। जैसे—'मैं भी खुश महसूस करूँ', 'हनुमान की भक्ति उलटा टँगी है।' इत्यादि।

छन्द-भंग और गण-दोष भी यत्र-तत्र मिलते हैं।

अगीत खण्ड में प्रबुद्ध रचनाएं हैं। मानव मन की उलझनें, कुण्ठाएं, वर्तमान सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को लेकर कवि ने रचनाएं की हैं। वर्तमान परिस्थितियों और विवशताओं का प्रभावपूर्ण भाषा और शैली में व्यक्त करने का प्रयास किया है कवि ने। 'कौन कहे', 'मौन', 'समाज का राम' आदि सशक्त रचनाएँ हैं।

व्याकरण दोष अगीत में भी हैं—जैसे—

यह पाठ टीका–लगती है फीका।

गीत से अगीत खण्ड की रचनाएँ निश्चय ही कवि के बढ़ते कदम की द्योतक हैं और भविष्य में इनसे उत्कृष्ट साहित्य की आशा की जा सकती है।

मृगजल—लेखक—शकुंतला भार्गव अर्चना, काव्य, प्रकाशक—प्रदीप प्रकाशन; धानमंडी चौक, अजमेर।

मृगजल : पाँच खण्डों में विभाजित कविता संकलन है। कवयित्री ने पुस्तक के आरम्भ

में १२ पृष्ठों की ठोस भूमिका प्रस्तुत की है जिसमें अपनी काव्य कला विषयक दृष्टिकोण पर संकेत किया है। वर्तमान कुंठाग्रस्त वैज्ञानिक युग में कला के सहज स्वाभाविक रूप की अवहेलना, बौद्धिक शीर्षासन कला को उसके सहज पथ से दूर कर रहा है, कला के परम्परागत रूप परिवर्तन आदि विषयों पर ही समस्त भूमिका केन्द्रित है। भूमिका स्वयं में महत्वपूर्ण है, पुस्तक की रचनाओं से उसका कितना सामीप्य है यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता।

मानव को अपने ढंग से जीने का अधिकार है। आदर्शों की बल्लियाँ लगा कर उसकी जीवन वल्लरी को मोड़ना उसके सहज रूप को तोड़ना और मोड़ना है—

'अब तो ईश्वर के नाम पर चुप रहो;
अपने आदर्शों की दुहाई न दो।'

तथा—
"पाँखुरी-पाँखुरी कर के
अपनी सहज गति से खिल कर
कली का पुष्प रूप में विकसित हो जाना
यही उसके जीवन की पूर्णता, सौन्दर्य और सार्थकता है।
इस आत्मोपलब्धि से परे भला जीवन का और क्या अर्थ है?
अतः जीओ और जीने दो।.....
अपने सहज सुन्दर रूप में निर्बाध खिलने दो।

—(मुक्ता)

चन्द्र के प्रकाश से दीपक नहीं जल सकते। भोजन के स्मरण से भूख नहीं मिटती। बार बार, विभिन्न योनियों में जन्म ले कर भी मनुष्य की आत्मा पूर्णता प्राप्ति के प्रयत्न में भटकती ही रहती है। जीवन अथाह, उद्वेलित सागर में भटकाव का ही नाम है। स्नेह भीतरी ही उसके जीवन को स्थिर कर सकती है, पार लगा सकती है।

कवयित्री ने आध्यात्म, रहस्य और दर्शन के सूक्ष्म विषयों को लेकर जो रचनाएँ की हैं वे गंभीर और चिंतनशील बन गयी हैं। निम्न पंक्तियों में कवयित्री की भाव-प्रवणता के साथ दर्शन की गहनता की झलक है—

क्षुधा से क्षुधा तक की तृप्ति विश्राम है,
जगने से जगने तक निद्रा विश्राम है;
किन्तु विश्राम ये नहीं है गति सीमा—
जीवन से जीवन तक, मरना विश्राम है।

—(मुक्तक मालिका)

मृगजल की समस्त रचनाओं में कवयित्री के बौद्धिक, कलात्मक और नारी मन की सहज अनुभूतियों की झलक देखने को मिलती है। चिन्तनशीलता का वैविध्य यत्र-तत्र व्याप्त है।

रचनाओं में काव्य प्रवाह है, सरसता है और भावों का सूक्ष्म उतार चढ़ाव है। बौद्धिक

स्तर की कविताएँ भी बोझिल न होकर सुरुचिपूर्ण उपयुक्त शब्द चयनों में बँध कर सरस और प्रवाहपूर्ण बन गयी हैं। अधिकांश रचनाएँ छन्द मुक्त ही हैं। कविताओं में अर्चना जी के अध्ययन और अनुभव की झलक स्पष्ट है। भाव और भाषा दोनों ही पर कवयित्री का समान अधिकार है। भाव और अभिव्यक्ति से पूर्ण मृगजल का साहित्य जगत् में निस्संदेह स्वागत और सम्मान होगा।

—शकुन्तला सिरोठिया
१०९ बाई का बाग, प्रयाग

गोस्वामी तुलसीदास के सुबोध दोहे एवं, कबीर साहब की सुबोध साखियाँ—सम्पादक, वियोगी हरि, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। मूल्य एक रुपया एवं डेढ़ रुपए।

श्री वियोगी हरि हिन्दी साहित्य के विद्वान्, कुशल टीकाकार एवं सन्त साहित्य के विशेषज्ञ हैं। प्रथम पुस्तक में तुलसीदास के प्रमुख दोहों का संकलन प्रस्तुत किया गया है। ध्यान इस बात का रखा गया है कि दोहे सरल, सुबोध एवं नित्य पठन तथा मनन के लिए हों। ये दोहे तुलसीदास के दोहावली, 'तुलसी सतसई' एवं 'रामचरितमानस' से लिए गए हैं। इन्हें बालकों को प्रारम्भ में ही कंठस्थ करा देना चाहिए इससे उन्हें नैतिक बल प्राप्त होगा। कुछ दोहे ऐसे हैं जो जीवन भर मार्गदर्शक बन सकते हैं।

कुल १५८ दोहे संग्रहीत हैं जो इन विषयों के अनुसार विभक्त हैं—वंदना और ध्यान, रामनाम की महिमा, आदर्श प्रेमभक्ति, सत्संग, राजधर्म, विवेक, लोक व्यवहार, संतोष और शान्ति, माया, चेतावनी, कलिकाल और कृपा का प्रताप। इन दोहों का अर्थ भी दे दिया गया है।

कबीरदास हिन्दी साहित्य के मस्तमौला भक्त कवि हैं। इनकी वाणी में गहरा तत्त्व है। इन्होंने सदैव सत्य का सहारा ग्रहण किया है और बिना किसी जाति-पाँति भेद के इन्होंने जो कुछ सत्य देखा उसी को खरी वाणी में कहा है। यह एक समाज सुधारक भी थे अतएव इन्होंने बाह्याडम्बर, छुआछूत एवं हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की घोर निन्दा की है। इन्हीं सामाजिक विषयों को दृष्टि में रखते हुए कबीर ने साखियों की रचना की है। हरिजी ने इस संकलन में पचीस विषयों के अनुसार साखियों का चुनाव किया है। यद्यपि कबीर की वाणी बड़ी अटपटी एवं टेढ़ी है, फिर भी ऐसी लोकोपयोगी और स्पष्ट बातें बहुत कम कवियों ने कही हैं। सभी साखियों का अर्थ भी दिया गया है।

ऐसी उपयोगी और सस्ती पुस्तकों का घर-घर में प्रचार होना चाहिए ताकि अश्लील साहित्य का प्रचार रोका जा सके। वास्तव में ये पुस्तकें बड़े काम की हैं।

समस्या आम युवक और युवतियों की: लेखक—शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी, प्रकाशक—भार्गव जी प्रकाशन, वाराणसी, मूल्य २ रुपए पचास पैसे।

श्री त्रिपाठी दर्शनशास्त्र के अनुसन्धानकर्त्ता नवयुवक छात्र हैं। उन्होंने इस पुस्तिका में अपने विचारों को उपस्थित किया है। यह जरूरी नहीं कि इनके विचारों से सभी सहमत ही हों। विचारों में भिन्नता स्वाभाविक है। लेखक ने मानव समाज की समस्याओं को व्यक्ति, राष्ट्र एवं विश्व में वर्गीकृत कर के उसके सुलझाने का प्रयास अपने ढंग से किया है। नौजवान लेखक ने स्वयं के प्रति और दूसरों के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं, इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

बातें नैतिक और स्पष्ट हैं, लेकिन हम उन्हें उपयोगी जानते हुए भी उनकी उपेक्षा करते हैं। अन्त में मैं यही कह सकता हूँ कि पुस्तक पठनीय है।

महावीर वाणी : लेखक––डॉ० भगवानदास तिवारी, प्रकाशक––संगम प्रकाशन, १२४ शहराराबाग, इलाहाबाद। मूल्य १५ रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक के दो खंड हैं––प्रथम खंड के अन्तर्गत पाँच अध्याय आते हैं जो जैन धर्म की व्याख्या से संबंधित हैं––जैसे, जैन धर्म और साहित्य, जैन दर्शन, जैन संस्कृति आदि। द्वितीय खंड में 'महावीर वाणी' पाठ एवं व्याख्या सहित प्रस्तुत की गई है।

महावीर वाणी न केवल जैनियों के लिए ही उपयोगी है अपितु सभी मानव प्राणी इससे लाभान्वित हो सकते हैं। गौतम बुद्ध एवं महावीर स्वामी ने दो शाश्वत धार्मिक सिद्धान्तों––सत्य एवं अहिंसा को जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया। इन्हीं मूल आधारों को लेकर महात्मा गांधी ने भारत को स्वतंत्रता दिलाई है।

भगवान महावीर जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर थे। जैनियों की संस्कृति बहुत प्राचीन है। विद्वान लेखक ने इसे विवादास्पद बताया है कि वैदिक संस्कृति जैन संस्कृति से प्राचीन है, समकालीन है अथवा उससे परवर्ती है। इतिहास के जानने वाले विद्वानों ने वैदिक संस्कृति को ही प्राचीन माना है और वही मूल संस्कृति है। इसमें सन्देह नहीं कि जैन संस्कृति में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह द्वारा मानव मात्र की भावना, विचार, क्रिया और व्यवहार में विवेकयुक्त संयम का विधान किया गया है। हो सकता है इन तात्त्विक तथ्यों को जैनियों ने वेद से ही ग्रहण किया हो। इस पर प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और धर्मशास्त्र के विद्वानों को विचार करके निर्णय देना चाहिए।

महावीर वाणी का मूल्य विषय आत्मज्ञान है जिसमें भेद विज्ञान से लोक, अलोक, जीव, कर्म-कर्मफल, कर्मबन्ध, धर्म, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि पर भी सूक्ष्म विचार किया गया है। ये सभी विषय द्वितीय भाग में हिन्दी अर्थ सहित विद्यमान हैं। इसकी भाषा अर्धमागधी है जो आर्यपरिवार की संस्कृत संबंध की सम्पन्न भाषा है। साहित्यिक दृष्टि से महावीर वाणी भले ही उत्कृष्ट ग्रन्थ न सिद्ध हो, फिर भी जीव मात्र के कल्याण के लिए स्वानुभूत सत्य को सहज, सरल, स्पष्ट रूप में उन्होंने व्यक्त किया है। अतएव उनकी वाणी में 'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्' की त्रिवेणी प्रवाहित होती है।

पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक है। जैन धर्मावलम्बियों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं है।

ज्ञान, मूल्य और सत् : लेखक––संगमलाल पाण्डेय, प्रकाशक––साहित्यवाणी, इलाहाबाद, मूल्य, ८ रुपए।

श्री संगम लाल पाण्डेय प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में एक प्रमुख प्राध्यापक हैं। दर्शन संबंधी इनके लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। संस्कृत साहित्य का इन्होंने विशेष अध्ययन किया है। इनकी विशेषता यह है कि ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है उसे अक्षरशः सत्य मानने के पहिले उसका परीक्षण, निरीक्षण एवं अनुभव करने के पश्चात् ही उसे स्वीकार करते हैं। ये एक मौलिक चिन्तक एवं विचारक हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में कुल दस अध्याय हैं। इनमें से अधिकांश निबंध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। 'आत्मा का स्वभाव' नामक निबन्ध ने एक विवाद खड़ा कर दिया। श्री पाण्डेय ने आलोचनाओं का उत्तर भी दिया और उन्हें सन्तोष है कि "इस विवाद के फलस्वरूप आत्मा-संबंधी मेरे विचारों को बड़ा प्रोत्साहन मिला।" इनके सोचने एवं विचारने का अपना अलग दृष्टिकोण है। यह लकीर के फकीर नहीं हैं। इन्होंने स्वयं लिखा है कि "मैंने यहां जिस दार्शनिक मत की स्थापना की है उसका मूल भारत की धरती और संस्कृति में है। मैं उन विचारकों को भारतीय नहीं मानता जो किसी पश्चिमी विचारक या दार्शनिक मत के अनुसार चिन्हित करते हैं अथवा उसके अनुसार किसी भारतीय दर्शन की व्याख्या करते हैं।" प्रस्तुत पुस्तक में इन्होंने एक नए दार्शनिक मत की स्थापना की है जिसे 'एकात्मक मूल्यवाद" की संज्ञा प्रदान की है। दर्शनशास्त्र के पाठकों एवं विद्वानों को इस पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए और पाण्डेय जी की इस चुनौती को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए कि "अब और आगे भारतीय दर्शन का विकास नहीं हो सकता है।"

—कृष्णनारायण लाल

कूँचा राय गंगा प्रसाद, प्रयाग

साजिशों के सरताज : लेखक––मनहर चौहान, प्रथम संस्करण, १९७१, प्रकाशक––नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली–६। मूल्य–––३ रुपया ५० पैसे।

नेशनल पब्लिशिंग हाउस द्वारा १६ किश्तों में प्रकाशित 'अंग्रेज आये और गये' उपन्यास-माला की दो पुस्तकें मेरे सम्मुख हैं 'साजिशों के सरताज' इसमें से पहली किश्त है।

इसमें इस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना से लेकर प्लासी की लड़ाई तक की कथा को समेटा गया है। किस प्रकार अंग्रेजों ने प्रारम्भ में व्यापार को मुखौटा लगाया, फिर भारत की राजनीति में गहरी दिलचस्पी लेते हुए, धीरे-धीरे बुद्धिचातुर्य और गहरी कूटनीति की चालों से अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करते हुए, वे बंगाल के शासक बन गए।

इस पूरी कथा को लेखक ने बहुत ही सरल और बोलचाल की भाषा में प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह पुस्तक किशोरों के लिए लिखी गई है, फिर भी इसे जो भी पढ़ेगा, वह इसे पूरा पढ़े बिना छोड़ेगा नहीं। इसका मुख्य कारण इसकी रोचक शैली है। लेखक ने सहज और सुबोध भाषा के माध्यम से तत्कालीन इतिहास को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

शेरों के शेर

'शेरों के शेर' इस उपन्यासमाला की तीसरी किश्त है। इसमें हैदरअली और टीपू सुल्तान के उस संघर्ष की कहानी है, जिसके आगे अंग्रेजों का रणकौशल ठप-सा पड़ गया था, फिर भी अंग्रेजों की कूटनीति और धूर्तता के आगे सभी भारतीय प्रयास एक के बाद एक ढहते गए, और सफलता अंग्रेजों के पैर चूमती गई।

आज से पचास वर्ष पूर्व मैकमिलन एण्ड कं० लि० द्वारा प्रकाशित तथा ई० मार्सडन द्वारा संपादित पुस्तक 'पाठमाला', जो किशोरों के लिए तैयार की गई थी, में अंग्रेजों ने भारत में किस प्रकार अपने राज्य की स्थापना की, और भारतीयों के लिए कौन-कौन से अच्छे कार्य किए, का वर्णन बहुत ही रोचक एवं प्रभावपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया था। इस ढंग से उसमें

अंग्रेजों का उज्जवल पक्ष ही भारतीय बालकों के सामने उभारा गया था। पर आज स्थिति बदल गई है। सारी ऐतिहासिक परिस्थिति को सही रूप से रखने की आवश्यकता आन पड़ी है। इस दृष्टि से उपर्युक्त दोनों पुस्तकें काफी लोकप्रिय सिद्ध होंगी। लेखक और प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।

कवि : लेखक--आनन्द शंकर माधवन, प्रकाशक--अमरावती, मन्दार विद्यापीठ, भागलपुर। मूल्य : आठ रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक 'कवि' एक काव्य है। यह हिन्दी में कुछ समय पहले प्रचलित गद्य-गीतों की शैली में लिखा गया है, इसमें कवि की सामान्य अनुभूतियां उसके विचार, उसकी कल्पना और मन की पीड़ा के साथ-साथ उसके आध्यात्मिक रुझान के संवेदनशील अवतरण हैं। कवि का जीवन-दर्शन स्वयं से संघर्ष पर आधारित है। उसने लिखा है--"भगीरथ तप ही जीवन की परिभाषा है। भीतर गंगा को प्रकट कर देना ही जीवन की सार्थकता है। जिनके भीतर काशीधाम और शंकर नजर नहीं आ रहे वे बाहर उन्हें व्यर्थ ढूंढ़ रहे हैं।"

श्री माधवन साधक हैं। उन्होंने अब तक बाइस ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं। साधना की लौ बाहरी प्रतिक्रियाओं से टूटती नहीं। कोई भी साधना स्वयं में स्तुत्य है, लेकिन साहित्य तो शब्दों और अभिव्यंजना की साधना है। उसमें व्याकरण तथा बोलचाल की भाषा की मिठास अत्यधिक अपेक्षित है। यह देवदत्त नहीं कठोर साधना से प्राप्त होते हैं।

हिन्दी राष्ट्र भाषा के परिवेश में आज जो कुछ भी लिखा जाय वह सशक्त भाषा में ही लिखा जाना चाहिए। भाषा सशक्त तभी होगी जब वह बोलचाल की हो--उसमें माटी की खुशबू हो। व्याकरण वाक्य विन्यास की रीढ़ है, जैसे वाक्य विन्यास भाषा की। कोमलता भाषा की प्राण कही जाती है, गद्य पद्य दोनों में। हिन्दी के हर साधक का ध्यान इस ओर खिंचना आज बहुत जरूरी है।

'कवि' के कई स्थल काफी हृदयग्राही हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि पुस्तक की सज्जा पर अनावश्यक व्यय नहीं किया गया है। सफल कृति स्वयं में मनोहारी होती है इस बात के लिए प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। 'कवि' हिन्दी के हर पुस्तकालय तथा स्कूल-कालेजों में अवश्य रखनी चाहिए।

--डा० ओम प्रकाश सक्सेना
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

शासन प्रभावक आचार्य जिनप्रभ और उनका साहित्य : लेखक--महोपाध्याय विनय सागर, प्रकाशक--जयपुर निवासी श्री छुट्टनलाल वैराठी एवं श्री राजरूप जी लंक प्रदत्त आर्थिक सहायता से श्री अगरचन्द नाहटा, संचालक अभय जैन ग्रंथमाला, नाहटों की गुवाड़, बीकानेर, सन् १९७५ ई०। मूल्य : पाँच रुपये।

जैन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री अगरचन्द नाहटा की प्रेरणा से महोपाध्याय विनय सागर ने "शासन प्रभावक आचार्य जिनप्रभ और उनका साहित्य" ग्रंथ के माध्यम से खहतर गच्छ के महान आचार्य जिनप्रभ सूरि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर व्यापक प्रभाव डाला है।

इसकी रचना में विद्वान् लेखक ने "वृद्धाचार्य प्रवन्धावली", उपाध्याय जयचन्द्र गणि भंडारस्थ "पट्टावली", पं० लालचन्द भगवान् गांधी लिखित "जिनप्रभ सूरि अने सुलतान मुहम्मद", स्वयं जिनप्रभ सूरि रचित "कन्यानयन तीर्थ कल्प" आदि ग्रंथों का सहयोग लिया है। तात्पर्य यह कि जिनप्रभ सूरि विषयक प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री का विधिवत अध्ययन करने के पश्चात् लेखक ने इस ग्रंथ की रचना की है। इसमें प्रसंगवशात् मुहम्मद तुगलक-कालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों तथा आचार्य के गुरुपरम्परा निर्देशान्तर्गत खहतर-गच्छ के इतिहास का उल्लेख कर इसे सामान्य एवं जैन साहित्य दोनों के ही अध्येताओं के लिए विशेष उपयोगी बना दिया है। इस ग्रंथ में आचार्य जी का जीवन वृत्त, मुहम्मद तुगलक से उनका संपर्क वर्णन प्रस्तुत करते हुए जैन धर्म के प्रति उनकी सेवाओं का विस्तृत उल्लेख हुआ है। इसकी मुख्य विशेषता है—आचार्य जिनप्रभ सूरि की सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न जैनागम, न्याय-दर्शन, व्याकरण काव्य-अलंकार, छन्द-शास्त्र के प्रौढ़ विकास, संस्कृत, प्राकृत, फारसी भाषाविद साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठापना है। लेखक ने इसमें जैन साहित्य, व्याकरण, काव्य, स्तोत्र साहित्य सम्बन्धी उनकी कृतियों का न केवल नामोल्लेख किया है अपितु उनकी समीक्षा भी प्रस्तुत की है जिनके आधार पर आचार्य भाषा प्रयोग-चमत्कार, उद्भावना की दृष्टि से उच्चकोटि के साहित्यकार सिद्ध होते हैं। अप्रकाशित स्तोत्रों का संकलन भी इसकी उपयोगितावर्धन करता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महोपाध्याय विनय सागर जी ने अपने ग्रंथ में परिश्रमपूर्वक आचार्य जिनप्रभ सूरि से सम्बन्धित काल, पात्र एवं साहित्य का परिचय देकर जैन साहित्य, हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य का सम्बर्द्धन किया है। जैन साहित्य की दृष्टि से तो यह एक सन्दर्भ ग्रंथ बन गया है। अनुसंधित्सुओं के लिए यह ग्रंथ विशेष उपयोगी है। मुद्रण संबंधी भूलों के कारण विषय के अनुरूप ग्रंथ का स्थूल रूप श्रेष्ठ नहीं हो सका है। श्री अभय जैन ग्रंथमाला के अंतर्गत प्रकाशित होने वाला यह तीसवाँ पुष्प है। इस ग्रंथमाला के अंतर्गत अब तक बहुत-सा प्राचीन दुर्लभ जैन साहित्य प्रकाशित हो चुका है। ग्रंथमाला के अधिकारी इस परंपरा को यथावत् रखेंगे, ऐसा विश्वास है।

चम्पा दर्शन : संपादक—विद्याभूषण मिश्र एवं हरिहर प्रसाद तिवारी, प्रकाशक—निराला साहित्य मण्डल, चाम्पा, (बिलासपुर—म० प्र०), पृष्ठ १४०। मूल्य तीन रुपये।

"चाम्पा" मध्य प्रदेशान्तर्गत बिलासपुर जिले में एक ऐतिहासिक स्थान है। 'चाम्पा दर्शन' ग्रंथ में, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, चाम्पा नगर के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक और औद्योगिक पक्षों पर वहाँ के लेखकों द्वारा प्रकाश डाला गया है। चाम्पा नगर की वर्तमान स्थिति का भी इसमें सम्यक् वर्णन हुआ है। ग्रंथांत में "गूंजे अनगूंजे स्वर" के माध्यम से नगर की नई प्रतिभाओं को प्रकाश में लाकर उनके स्वरों को दूसरे तक पहुँचाने का प्रयास हुआ है। इसमें संकलित सभी कवितायें खड़ी बोली में हैं। छत्तीसगढ़ी की एक भी कविता को स्थान नहीं मिला है। छपाई आकर्षक नहीं है। संभवतः इसका कारण चम्पा में अच्छे प्रेसों का अभाव होना है।

इस ग्रंथ से चाम्पा नगर के विषय में पाठक को पूरी जानकारी हो जाती है। निराला साहित्य मण्डल, चाम्पा का यह तीसरा पुष्प है। इसके पूर्व मंडल द्वारा 'पुकार' और 'गीत वल्लरी' नामक दो और ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। छत्तीसगढ़ अंचल के वीराने में, जहाँ आज भी साधनों की कमी है, मण्डल येन केन प्रकारेण अपने साहित्यिक उन्नयन कार्य में संलग्न है। इसके लिए मण्डल के अधिकारी और कार्यकर्ता धन्यवाद के पात्र हैं।

सेतु निर्माता : लेखक---यशपाल जैन, प्रकाशक---सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, सन् १९७५ ई०, मूल्य सात रुपए।

यशपाल जैन संस्मरण साहित्य के सिद्धहस्त लेखक हैं। गांधी विचारधारा, मानवता एवं भारतीय संस्कृति के प्रति उनमें असीम प्रेम और अपार निष्ठा है। 'सेतु निर्माता' ग्रंथ में उन्होंने भारत, भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा रख कर दो देशों के बीच सांस्कृतिक सेतु निर्माण करने वालों से सम्बंधित अपनी स्मृतियों को सँजोया है। ग्रंथ का प्रारम्भ होता है महात्मा गांधी के प्रेरणास्रोत लियो टालस्टाय की जन्मभूमि की यात्रा के संस्मरण से तथा अंत होता है भारत के राष्ट्रपति भवन में आयोजित 'आत्म विश्वास की जीवंत प्रतिमा हेलन केलर' के स्वागत में आयोजित समारोह की स्मृति में। इस प्रकार का सादगी से आरंभ और आत्म-विश्वास में समाप्ति ग्रंथ की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

इसमें संकलित संस्मरणों के पात्रों को दो दृष्टिकोण से देखा जा सकता है---देश और विचार। देश की दृष्टि से लियो टालस्टाय, इलिया ग्रिग्रोरीविच एहरतबुर्ग, प्रो० अलेक्सेई मुखाइलोविचग्राकोव, प्रो० अलेक्सी पेथोविच बारालिककोव, प्रो० वी० आई० कल्यानोव, डा० प० अ० बारालिकोव रूसी; दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज, कुमारी म्यूरियल लीस्टर, कुमारी एडिथ एडलम, ब्रिटिश; प्रिंस धानी निवात, फाया अनुमान रचथौन, थाई; कोडोम्हाइंग बर्मी; तुलसी मेहेड नेपाली हैं। इनके अतिरिक्त पं० रघुनाथ शर्मा तथा पी० ए० तिरुपति चेट्टि (चेट्टियार) दो ऐसे भारतीय हैं जिन्होंने क्रमशः थाईलैण्ड और कम्बोडिया में जाकर, वहाँ रहकर भारत के बीच सांस्कृतिक सेतु का निर्माण किया है। विचार की दृष्टि से टालस्टाय, कुमारी लीस्टर, एडलम तथा तुलसी मेहेर गांधीवाद व मानवता तथा शेष भारतीय साहित्य और संस्कृति से संबंधित हैं।

ग्रंथ रोचक और शिक्षाप्रद दोनों है। बड़े आकर्षक ढंग से लेखक ने न केवल अपने यात्रा एवं मिलन प्रसंगों का ही वर्णन किया है अपितु संबंधित पात्रों के जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त व प्रभावी चित्र खींचा है जिसका पाठक के हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार यह पुस्तक अपने लेखक एवं प्रकाशक की परंपरा के अनुरूप भारतीय संस्कृति एवं मानवता के पल्लवन में सहायक हुई है। छपाई सुन्दर और आकर्षक है।

---उदय शंकर दुबे
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

के

नवीनतम प्रकाशन

क्रमांक	कृति का नाम	लेखक/संपादक		मूल्य
१.	आतंक	ईश्वर चन्दर	सजिल्द	११-००
			अजिल्द	१०-००
२.	उग्रह	राम जैसवाल		१०-००
३.	बदलते संदर्भ और साहित्यकार	पं० हरिभाऊ उपाध्याय		१३-५०
४.	स्वातंत्र्योत्तर राजस्थान का हिन्दी साहित्य	सं० डा० राजेन्द्र शर्मा		११-५०
५.	मम्मी ऐसी क्यों थी	डा० राजानन्द		१०-००
६.	सोनल भींग (राजस्थानी) (पुरस्कृत कृति)	डा० मनोहर शर्मा		७-००
७.	काल भैरवी (राजस्थानी उपन्यास)	श्री रामनिवास शर्मा		७-४०
८.	विश्व मानवता की ओर (राजस्थानी अनुवाद)	अनु० डा० मनोहर प्रभाकर		१७-५०
९.	कुल्लियाते माइल (फारसी लिपि)	हज़रत माइल दहलवी		७३-५०
१०.	संस्कृत एकांकी नवरत्न सुषमा	डा० नारायण शास्त्री कांकर		८-५०
११.	फूल केसूला फूल (राजस्थानी गीत-संग्रह)	श्री रघुराज सिंह हाड़ा		६-५०
१२.	स्ठिउन दप्दतप्घापछष०	श्री भगवतीला व्यास		६-००
१३.	जीतेंगे हिम्मत वाले (पुरस्कृत बाल साहित्य)	श्री हमीदुल्ला खाँ		४-५०
१४.	राजस्थान में हिन्दी कथा और नाटक साहित्य के सौ वर्ष	सं० डा० नवलकिशोर डा० रामचरण महेन्द्र		७-२५

निदेशक

राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम)

उदयपुर

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

की

शीघ्र प्रकाश्य कृतियाँ

१. लाशों का जंगल (कहानी संग्रह)--श्री कमर मेवाड़ी

२. चेतना के फूल (कविता संग्रह)--डा० सुधा गुप्ता

३. जयंत नहीं रहा (कहानी संग्रह)--श्री शुभूपटवा

४. मेरे पिता की विजय (कहानी संग्रह)--श्री अशोक आत्रेय

५. ब्रह्मांड का उपमान (कहानी संग्रह)--डा० त्रिभुवन चतुर्वेदी

६. त्रिलोक गोयल की कविताएं (कविता संग्रह)--श्री त्रिलोक गोयल

७. आश्विन के धूप बिम्ब (कविता संग्रह)--श्री विश्वेश्वर शर्मा

८. शताब्दी निरुत्तर है (कविता संग्रह)--श्री भगवती लाल व्यास

छात्रों, शिक्षण-संस्थाओं, सार्वजनिक पुस्तकालयों और पुस्तक विक्रेताओं के लिए विशेष छूट की व्यवस्था है।

कृपया विस्तृत सूचीपत्र तथा बिक्री नियमावली के लिए—सम्पर्क करें

निदेशक, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर-३१३००१

⊙⊙

निदेशक

राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम) उदयपुर

इन्डियन पब्लिकेशन

(वार्षिक चन्दा बीस रुपये)

भारतीय पुस्तक व्यवसाय का मुख्य मासिक पत्र

साहित्य प्रेमियों से अपील

प्रिय बन्धु !

'इन्डियन पब्लिकेशन' का प्रकाशन दिसम्बर १९७५ से आरम्भ किया गया था। उस समय से यह पत्र निरन्तर रूप से प्रकाशित हो रहा है। इन्डियन पब्लिकेशन के विशेषांकों का परिचय इस प्रकार है :

१. गांधी साहित्य विशेषांक : दिसम्बर १९७५—पृष्ठ संख्या १२८—इसमें हिन्दी में ३००, अंग्रेज़ी में ४०० प्रकाशित गांधी-साहित्य (१९६७-१९७५) दिया गया है। मूल्य ५ रुपये।

२. बुक्स ऑन इंडियन स्टडीज : जनवरी १९७६—पृष्ठ संख्या ११२—इसमें हिन्दी में ६००, अंग्रेजी में १००० प्रकाशित भारतीय साहित्य (१९७३-७५) दिया गया है। मूल्य ५ रुपये।

३. इंडियन पब्लिकेशन्स : १९७५, अगस्त १९७६—पृष्ठ संख्या ८०—वर्ष १९७५ में प्रकाशित अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित श्रेष्ठ साहित्य (१५०० पुस्तकें) सम्मिलित किया जायेगा। मूल्य ५ रुपये।

४. भारतीय साहित्य : १९७५, सितम्बर १९७६—पृष्ठ संख्या ८०—इस अंक में १९७५ में हिन्दी एवं संस्कृत में प्रकाशित श्रेष्ठ साहित्य (१२०० पुस्तकें) सम्मिलित किया गया है। मूल्य ५ रुपये।

५. इंडियन पब्लिकेशन्स : १९७५, जनवरी १९७७—पृष्ठ संख्या १६०—इसमें समस्त भारतीय भाषाओं के प्रकाशन रोमन एवं देवनागरी लिपि में तथा अगस्त एवं सितम्बर अंक में पूरक प्रकाशन दिये हैं। मूल्य ५ रुपये।

नमूने की प्रति के लिए लिखें

इंडियन पब्लिकेशन्स, नवीन शहादरा-दिल्ली-११००३२

सम्मेलन के दो नये प्रकाशन

हनुमान के देवत्व तथा मूर्ति का विकास

लेखक

राय गोविन्द चन्द्र

मूल्य : तीस रुपए

कृष्ण-काव्य में सौन्दर्य बोध एवं रसानुभूति

लेखिका

डॉ० मीरा श्रीवास्तव

मूल्य : पैंतीस रुपए

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग